गुणस्थानों का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण[1]

– **डॉ. राकेश जैन शास्त्री**, नागपुर

सामान्यतया लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि गुणस्थान तो कोई महापुरुषों के होते होंगे, सामान्य व्यक्ति के 'गुणस्थान' कैसे हो सकते हैं? लेकिन सभी जीवों के भावों को पहचानने हेतु जिनागम की यह एक विशिष्ट कथन-पद्धति है, जिससे हम प्रत्येक संसारी जीव के भाव को पहचान सकते हैं।

यहाँ गुणस्थान में 'गुण' से तात्पर्य जीव के सभी प्रकार के भावों से है, न कि केवल सद्गुणों से; फिर वे अच्छे या बुरे या मिश्र कैसे भी हों? आगे-आगे हम आगम एवं युक्ति के आलोक में इन गुणस्थानों का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप जानने का प्रयास करेंगे, उससे भी यह बात स्पष्ट होती जाएगी।

हम यह तो कह सकते हैं कि ये भाव, सब जीवों के न होकर, केवल संसारी जीवों के ही होते हैं, क्योंकि सिद्ध जीव, गुणस्थानातीत होते हैं; लेकिन सब जीव भी तो शुद्ध पारिणामिकभाव की दृष्टि या शुद्धनय की दृष्टि से सिद्धसमान शुद्ध होने से गुणस्थानातीत हैं – यह भी तो सिद्धान्त-वचन है।

गुणस्थान का सामान्य स्वरूप[1]

आचार्यों ने गुणस्थान का स्वरूप **'मोहजोगभवा'**[2] लिखा है अर्थात् कर्मों के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले मोह और योग के कारण जो औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक आदि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे लक्षित जीवों की ही 'गुणस्थान' संज्ञा कही जाती है।[3]

'गुणस्थान की व्युत्पत्ति' हम ऐसे भी कर सकते हैं कि जीव के जो 'गुण' होते हैं, उनमें कर्मोदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम आदि के निमित्त से होनेवाले भाव या परिणाम या पर्यायें होती हैं, उन भावों सहित उन-उन जीवों की 'स्थान' संज्ञा है।

ध्यान रहे कि गुणस्थानों में अकेले कर्मोदय का निमित्त नहीं है, बल्कि कर्मों की सभी उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम आदि अवस्थाएँ निमित्त बनती हैं। मोह और योग को कारण कहने से यह भी नहीं समझना चाहिए कि इनके सिर्फ उदय से जो विकार उत्पन्न होते हैं, उन्हीं का नाम गुणस्थान है, बल्कि 'गुणस्थान' में विकारी और अविकारी सभी भावों का समावेश किया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया जाए तो समयसारादि ग्रन्थों में भी इन गुणस्थानों को स्पष्टत: पुद्गल के परिणाम कहा गया है[4] और गोम्मटसार में भी इन्हें कर्म के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम आदि के निमित्त से होनेवाले भाव कहा गया है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग में न केवल रागादि विकारी भाव, बल्कि सम्यग्दर्शनादि अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाना आवश्यक है; अत: आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी हमें यही बताना चाहता है कि **'भाई! तुम यदि अपना कल्याण करना चाहते हो तो**

1. यह लेख, आ.ब्र.यशपालजी जयपुर एवं पण्डित प्रकाशजी छाबडा इन्दौर के सहयोग के बिना असम्भव था, अत: हम उनकेअत्यन्त आभारी हैं।

अपने स्वभाव को लक्ष्य बनाओ, ये गुणस्थान आदि तो पुद्गल के परिणाम हैं, इनमें तुम्हारे आत्मा का स्वभाव कहीं नहीं है, तुम्हारा स्वभाव तो परमपारिणामिकभाव है, जबकि गुणस्थानों में कर्म के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम के निमित्त से होनेवाले भाव ही दिखाये जाते हैं।'

इस प्रकार हम समस्त संसारी जीवों को संक्षेप में चौदह गुणस्थानों में बाँट सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक संसारी जीव का कोई न कोई गुणस्थान अवश्य होता ही होता है।

षट्खण्डागम में सत्प्ररूपणा में गुणस्थानों और मार्गणास्थानों का ही वर्णन किया है अर्थात् वहाँ सत् का अर्थ सत्त्व, गुण या भाव किया है; वहाँ निम्न शंका-समाधान के माध्यम से लिखा है –

"**शंका** – जीव कहाँ रहते हैं?

समाधान – गुणों में जीव रहते हैं।

शंका – वे गुण कौनसे हैं?

समाधान – औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक – ये पाँच प्रकार के गुण अर्थात् भाव हैं। ...... इन गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुण संज्ञा को प्राप्त होता है।"

गुणस्थान-पद्धति को ओघ अर्थात् सामान्य-पद्धति, संक्षेप-पद्धति (अर्थात् एकमात्र जीवों के परिणामों पर आधारित) या जीवसमास-पद्धति (अर्थात् समस्त संसारी जीवों के परिणामों के हिसाब से वर्गीकरण) के नाम से भी जाना जाता है; जबकि मार्गणास्थान-पद्धति में भावों के अलावा भी अन्य अनेक तरह से विस्तार किया जाता है, अत: उसे विशेष-पद्धति, विस्तार-पद्धति, जीव-विग्रह-पद्धति आदि के नाम से जाना जाता है।

इन गुणस्थानों में पाये जानेवाले भावों की भी अपेक्षा विचार किया जाए तो जीवों को अनेक प्रकार से विभाजित किया जा सकता है –

जैसे, मोह और योग-निमित्तक भावों की अपेक्षा विचार करें तो मोह के दो भेदों में दर्शनमोह की अपेक्षा प्रारम्भ के चार गुणस्थान और चारित्रमोह की अपेक्षा पाँचवें से बारहवें तक आठ गुणस्थान तथा योग की अपेक्षा तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रारम्भिक चार गुणस्थानों में चारित्र या योग की प्रवृत्ति बिल्कुल होती ही नहीं, ऐसा नहीं है, बल्कि उन चार गुणस्थानों में उनकी मुख्यता नहीं है, इसी प्रकार आगे के गुणस्थानों श्रद्धान या दर्शनमोह के उपशमादि की प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में श्रद्धान को परमावगाढ सम्यक्त्व, ज्ञान को केवलज्ञान और चारित्र को परमयथाख्यातचारित्र आदि के रूप में स्वीकृति देना, उनकी मुख्यता नहीं, लेकिन उनकी सत्ता की स्वीकृति अवश्य देता है। (विशेष देखें, धवला 5/203, शंका-समाधान)

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि-मिश्र(तृतीय गुणस्थान)-सम्यग्दृष्टि, अज्ञानी-मिश्र(तृतीय गुणस्थान)-ज्ञानी, अधर्मात्मा-मिश्र(तृतीय गुणस्थान)-धर्मात्मा, मिथ्याचारित्र-मिश्र(तृतीय गुणस्थान)-सम्यक्चारित्र, अव्रती-अणुव्रती(विरताविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान)-महाव्रती अथवा अविरत-देशविरत-महाविरत, गृहवासी-मिश्र(पंचम गुणस्थान)-गृहविरत, प्रमत्त-अप्रमत्त, रागी-वीतरागी, छद्मस्थ-सर्वज्ञ, सयोग-अयोग, सुखी-दु:खी, बहिरात्मा-अन्तरात्मा-परमात्मा, अशुभोपयोग-शुभोपयोग-शुद्धोपयोग-शुद्धोपयोगफल, आदि अनेक अपेक्षाओं से इन गुणस्थानों का बँटवारा हो सकता है।

गुणों की दृष्टि से बात करें तो प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में श्रद्धा की मुख्यता है--, पाँचवें से बारहवें गुणस्थान तक चारित्र की मुख्यता है और अन्तिम दो गुणस्थानों में योग की मुख्यता है। यद्यपि इन गुणस्थानों में भी परस्पर उक्त गुणों तथा अन्य ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणों की भी चर्चा आती है, क्योंकि आत्मा एक अखण्ड वस्तु है तथा 'गुणस्थान' शब्द भी आत्मा की अखण्ड विकारी-अविकारी-मिश्र पर्यायों का द्योतक है। इसी कारण आचार्यों ने प्रत्येक गुणस्थानों में भी सभी गुणों की न्यूनाधिकता, सम्यक्-मिथ्यापना, उपयोग एवं लेश्या विभाजन आदि अपेक्षाओं की समग्रता से चर्चा भी की है।

जिनागम[5] में 14 गुणस्थानों में रहनेवाले उपयोग की व्याख्या करते हुए लिखा है – 'जीव के असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम हैं, जिन्हें सिद्धान्त ग्रन्थों में मध्यम प्रतिपत्ति से मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानरूप से कहा है तथा यहाँ प्राभृत शास्त्र में उन्हीं गुणस्थानों को संक्षेप में अशुभोपयोग-शुभोपयोग-शुद्धोपयोग- शुद्धोपयोग का फल के रूप में कहा गया है। वह इस प्रकार है – मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र; इन तीन गुणस्थानों में **तारतम्य से घटता हुआ अशुभोपयोग** है। उसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत; इन तीन गुणस्थानों में **तारतम्य से बढता हुआ शुभोपयोग** है। उसके बाद अप्रमत्तसंयत से क्षीणकषाय; इन छह गुणस्थानों में **तारतम्य से बढता हुआ शुद्धोपयोग** है। उसके बाद सयोगिजिन और अयोगिजिन; इन दो गुणस्थानों में **शुद्धोपयोग का फल** है – ऐसा भावार्थ है।'

इसी प्रकार गुणस्थानों के प्रकरण में लेश्याओं के अन्तर्गत भावलेश्याओं की ही प्रधानता[6] मानी गई है – कृष्ण-नील-कापोत लेश्यावाले जीव, एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक हो सकते हैं। पीत-पद्म लेश्यावाले जीव, संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक हो सकते हैं। शुक्ल लेश्यावाले संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक हो सकते हैं। आगे अयोगकेवली और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान, लेश्यारहित होते हैं।[7]

धवलाकार ने तो यहाँ तक कहा है कि एक ही गुणस्थान में जो अनेक प्रकार के भाव एकत्रित होते हैं, उनकी 'सान्निपातिक' संज्ञा है। (धवला, 5/193-196, 4/143) जैसे, पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में मुख्यरूप से दर्शनमोह का औदयिकभाव है, चारित्रमोह का भी कषायभाव या असंयमभावरूप औदयिकभाव है, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तराय का क्षायोपशमिकभाव है, अघातिकर्मों के मुख्यरूप से औदयिकभाव है तथा भव्यत्व आदि का पारिणामिकभाव (देखें, धवला 5/197) है। इन सब भावों को मिला देने पर इनका मिला-जुला भाव, वह प्रथम गुणस्थान का 'सान्निपातिकभाव' कहलाता है। इन भावों को संयोगीभाव के रूप में भी समझ सकते हैं।

मूलत: पाँच भावों को स्वीकार करने पर इनके संयोगी या सान्निपातिकभाव, एकसंयोगी, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, चतु:संयोगी, पंचसंयोगी – ऐसे अनेक प्रकार हो सकते हैं।

जैसे, पहले-दूसरे-तीसरे गुणस्थान में कुल दस भंग बनते हैं –

तीन असंयोगी भंग होते हैं – औदयिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और पारिणामिकभाव;

तीन एकसंयोगी भंग होते हैं – औदयिकभाव-औदयिकभाव, क्षायोपशमिकभाव-क्षायोपशमिकभाव और पारिणामिकभाव-पारिणामिकभाव;

तीन द्विसंयोगी भंग – औदयिकभाव-क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव-पारिणामिकभाव और क्षायोपशमिकभाव-पारिणामिकभाव;

एक त्रिसंयागी भंग – औदयिकभाव-क्षायोपशमिकभाव-पारिणामिकभाव।

इसी प्रकार अन्यत्र गुणस्थानों में सान्निपातिकभावों के यथायोग्य भंगों को जानना चाहिए। इस सम्बन्ध में धवला पुस्तक 5 में उद्धृत निम्न गाथाएँ द्रष्टव्य हैं –

मिच्छत्ते दस भंगा, आसादणमिस्सए वि बोद्धव्वा।
तिगुणा ते चदुहीणा, अविरदसम्मस्स एमेव।।13।।

देसे खओवसमिए, विरदे खवणाण ऊणवीसं तु।
ओसामगेसु पुध पुध, पणतीसं भावदो भंगा।।14।।

अर्थात् मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र गुणस्थानों में दस, अविरतसम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत गुणस्थानों में छब्बीस, क्षपकश्रेणी के चार गुणस्थानों में उन्नीस, परन्तु उपशमश्रेणीवालों के चार गुणस्थानों में पैंतीस भंग हो सकते हैं।

आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में औदयिकभाव, क्षायिकभाव और पारिणामिकभाव के आश्रित दस भंग हो सकते हैं।

इस प्रकार सभी गुणस्थानों के मुख्य भाव के साथ-साथ उक्त सान्निपातिक या संयोगीभावों का समवाय भी अवश्य जानने योग्य है।

प्रत्येक गुणस्थान के नाम और संक्षेप में उनकी विशेषता

आत्मख्याति टीका[8] में आचार्य अमृतचन्द्र ने गुणस्थानों के नामों में कुछ विशेषता रखी है, सभी नामों को उन्होंने उन-उन लक्षणवाले भावों से युक्त जीवों से जोडा है, क्योंकि इन गुणों के स्थान तो संसारी जीव ही होते हैं; गोम्मटसार[9] एवं धवला टीका[10] में भी इसी प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं। गुणस्थानों के नामों में भी प्रत्येक गुणस्थान के नाम में एक संकेत है, जो उसे अन्य से अलग करता है।

गुणस्थानों के नामानुसार उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार हैं –

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – वस्तुस्वरूप की विपरीत तारतम्यरूप श्रद्धावाला **मिथ्यादृष्टि**[11] जीव.

2. सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – सम्यक्त्व की विराधनारूप अनन्तानुबन्धी-कषाय सहित क्षणिक अवस्थावाला **सासादन-सम्यग्दृष्टि**[12] जीव.

3. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – सम्यक् और मिथ्या, दोनों प्रकार के श्रद्धान से मिश्रित क्षणिक अवस्थावाला **सम्यग्मिथ्यादृष्टि**[13] जीव.

4. अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – अविरत होकर भी सम्यग्दृष्टि रहनेवाले दृष्टि-मुक्त **अविरत-सम्यग्दृष्टि**[14] जीव.

5. संयतासंयत गुणस्थान – आंशिक संयत और आंशिक असंयत अणुव्रती **संयतासंयत**[15] जीव.

6. प्रमत्त-संयत गुणस्थान – स्वरूप एवं मूलगुणों की असावधानीरूप प्रमाद के साथ भी संयत रहनेवाले अविरति-मुक्त **प्रमत्त-संयत**[16] मुनिराज.

7. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान – स्वरूप एवं मूलगुणों की सावधानीरूप अप्रमाद के साथ संयत रहनेवाले प्रमाद-मुक्त **अप्रमत्त-संयत**[17] मुनिराज.

8. अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक गुणस्थान – पूर्व में नहीं हुए कभी ऐसे अनन्तगुनी विशुद्धि-सहित कषाय का उपशम व क्षय करनेवाले करण-परिणामयुक्त श्रेणी का आरोहण

करनेवाले **अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक**[18] मुनिराज.

9. अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक गुणस्थान – जहाँ अनेक जीवों के प्रतिसमय के परिणामों में किंचित् भी भेद नहीं होता, लेकिन जहाँ बादर अर्थात् स्थूल कषाय की निवृत्ति नहीं हुई है – ऐसे अनन्तगुनी विशुद्धिसहित कषाय का उपशम व क्षय करनेवाले परिणामयुक्त श्रेणी का आरोहण करनेवाले **अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक**[19] मुनिराज.

10. सूक्ष्मसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक गुणस्थान – जहाँ बादर अर्थात् स्थूल कषाय की निवृत्ति तो हो गई है, लेकिन सूक्ष्म कषाय या लोभ या साम्पराय की निवृत्ति नहीं हुई है – ऐसे अनन्तगुनी विशुद्धिसहित कषाय का उपशम व क्षय करनेवाले श्रेणी का आरोहण करनेवाले **सूक्ष्मसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक**[20] मुनिराज.

11. उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान – सम्पूर्णरूप से कषाय उपशम को प्राप्त हो गई है जहाँ – ऐसे यथाख्यात औपशमिकचारित्रयुक्त वीतराग छद्मस्थ (केवलज्ञानरहित) **उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ**[21] महामुनिराज.

12. क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान – सम्पूर्णरूप से क्षय को प्राप्त हो गई है कषाय जहाँ – ऐसे यथाख्यात क्षायिकचारित्रयुक्त वीतराग छद्मस्थ (केवलज्ञानरहित) **क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ**[22] मुनिराज.

13. सयोग-केवली-जिन गुणस्थान – पूर्ण वीतरागता एवं केवलज्ञानसहित, परन्तु योग की चंचलता सहित जीवन-मुक्त **सयोग-केवली-जिन**[23] अरहन्त भगवान.

14. अयोग-केवली-जिन गुणस्थान – पूर्ण वीतरागता एवं केवलज्ञानसहित तथा योग की चंचलतारहित पूर्णत: निरास्रव-निर्बन्ध **अयोग-केवली-जिन**[24] अरहन्त भगवान.

15. गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान – भाव-द्रव्य-नोकर्म, गुणस्थानों के भेद और संसार से रहित सादि-अनन्त काल तक सिद्धालय में रहनेवाले परम शुद्ध साक्षात्-मुक्त **गुणस्थानातीत सिद्ध**[25] भगवान.

गुणस्थानों का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण

गुणस्थानों की दार्शनिकता के प्रसंग में 'दर्शन' से तात्पर्य यह है कि वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान एवं उनकी परम्परा में परम वीतरागी सन्तों के द्वारा जो वस्तुस्वरूप देखा गया एवं उनके माध्यम से जो उसे देखने की दृष्टि प्राप्ति होती है, उसे ही 'दर्शन' कहते हैं। इसी प्रकार 'गुणस्थान का दर्शन' यह है कि वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान एवं उनकी परम्परा में वीतरागी सन्तों के द्वारा जो जीव के भावों का तारतम्य से स्वरूप देखा गया है, उसे ही 'गुणस्थान का दर्शन' कहते हैं। यह गुणस्थान का दर्शन, **'मोहजोगभवा'**[26] के रूप में गोम्मटसार आदि जैनदर्शन के दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

मोह अर्थात् दर्शनमोह और चारित्रमोह; जिनके तारतम्यरूप उदय में मिथ्यात्वादि एवं कषायादि भावों की तरतमता होती है; उसके निमित्त से जीव के बारह गुणस्थान बन जाते हैं। यद्यपि यहाँ भी योग का अस्तित्व तो विद्यमान होता है, तथापि यहाँ योग की प्रधानता नहीं होती।

इसी प्रकार अन्तिम तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में केवल योग के सद्भाव एवं अभाव का निमित्तपना रहता है। यहाँ भी योग की चंचलता तो सिर्फ तेरहवें गुणस्थान में ही होती है, चौदहवें गुणस्थान में उसका भी अभाव हो जाता है; अत: इस गुणस्थान का 'अयोगकेवली' नाम सार्थक है।

इन सभी गुणस्थानों में तारतम्य से उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि होती है। पहले से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में, तीसरे से चौथे में, इत्यादि प्रकार से विशुद्धि बढती जाती है; उसी को आधार बनाकर इन गुणस्थानों के क्रम का निर्धारण किया गया है, न कि इस गुणस्थान के बाद यह होता है अर्थात् पहले के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा इत्यादि क्रम को आधार बनाकर गुणस्थानों का क्रम नहीं रखा गया है।

अनादिकाल से समस्त जीवों का प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, इसीलिए अनादिकाल से आजतक जितने भी सिद्ध बने हैं, वे सभी पहले कभी न कभी मिथ्यादृष्टि अवश्य ही रहे थे। लेकिन यदि हम समग्रता से विचार करें और अनन्तकाल पहले जाकर देखें तो हमें आश्चर्यसहित ज्ञात होता है कि उस समय भी लगभग आज के समान ही स्थिति थी, क्योंकि उसके पूर्व भी अनन्तकाल बीत चुका था, ऐसा हम अनन्तकाल पीछे ..... अनन्तकाल पीछे अनन्त बार भी चले जाएँ तो भी अनादिकाल तक के प्रारम्भ तक नहीं पहुँच सकते हैं क्योंकि उसका प्रारम्भ है ही नहीं।

देखो, अनादिकाल से ही सिद्धक्षेत्र अनन्तानन्त जीवों से ही भरा है, अनादिकाल पहले भी छह महिना आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जा रहे थे, आज भी जा रहे हैं और आगे भी जाते रहेंगे; फिर भी लोक में व्यवहारराशि या त्रसराशि के जीवों की संख्या इतनी ही थी, यद्यपि निगोदिया जीवों की राशि में यत्किंचित् अन्तर पडता है, लेकिन वह भी न के बराबर। अरे! अनादिकाल से आज तक लोक में से एक निगोद-शरीर की भी कमी नहीं हो पाई है, क्योंकि कहा भी है –

एक निगोद-शरीर में, ऐते जीव बखान।
तीन काल के सिद्ध सब, एक अंश परमान॥

अर्थात् निगोदिया जीवों के एक शरीर में भी इतने अनन्तानन्त जीव रहते हैं कि तीन काल के समस्त सिद्धजीवों की संख्या भी उसके मुकाबले अंश मात्र होती है।

इस प्रकार एक साधारण निगोदशरीर के अक्षय-अनन्त जीव भी जब सम्पूर्ण तीन काल में सिद्ध होनेवाले नहीं हैं, अत: अनेक जीवों की अपेक्षा तो संसार की स्थिति सदाकाल एक-सी ही रहनेवाली है, इसलिए प्रयोजन की दृष्टि से विचार करें तो अनेक जीवों को देखने में सार नहीं है, सार तो इस बात में है कि हम अपने कल्याण की सोचें और उस दिशा में प्रयत्नशील रहें।

प्रत्येक गुणस्थान की संक्षिप्त शाब्दिक व्याख्यासहित दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण, जिनागम के आधार पर निम्न प्रकार उपलब्ध होता है –

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – इस गुणस्थान का **'मिथ्यादृष्टि'** नाम ही उसके स्वभाव की घोषणा करता है। मिथ्या अर्थात् विपरीत या झूठा या उल्टा; दृष्टि अर्थात् श्रद्धान या मान्यता या अभिप्राय। इस प्रकार उल्टी मान्यतावाला जीव ही मिथ्यादृष्टि कहलाता है और मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टिपना ही उसका गुण होने से यही उसका गुणस्थान कहलाता है। 'दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय होता है; इसलिए जिन जीवों की रुचि असत्य में होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं।' (धवला 1/163)

जैसे, पित्त-ज्वर से युक्त जीव को मधुर रस भी कटु लगता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव को धर्म नहीं रुचता है, उसे अरहन्त भगवान के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन पर विश्वास नहीं होता और कुदेवादि के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट मिथ्या वचनों पर सहज ही विश्वास हो जाता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो इस गुणस्थान के भावापेक्षा असंख्यात भेद सम्भव हैं, मिथ्यात्व के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान – ऐसे पाँच भेद भी हो जाते हैं। धवलाकार ने तो इन पाँच को मिथ्यात्वकर्म के ही भेद प्ररूपित करते हुए लिखा हैं कि 'जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, अज्ञानरूप मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।' (धवला 1/163)

वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि 'जितने भी वचनमार्ग हैं, उतने ही नयवाद अर्थात् नय के भेद हैं और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय (एकान्तमतवादी मिथ्यादृष्टि) होते हैं।' (धवला 1/163)

प्रकारों की दृष्टि से देखें तो मिथात्व के गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व – ऐसे दो भेद हो जाते हैं। जो मनुष्यभव में नवीन ग्रहण किया जाता है, उसे **गृहीत मिथ्यात्व** कहते हैं, जबकि अनादि से चला आ रहे जीवादि पदार्थों एवं तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को ही **अगृहीत मिथ्यात्व** कहते हैं। जबकि गृहीत मिथ्यात्व भी अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व का ही पोषण करता है। धवलाकार ने 'मिथ्यात्व के तीन भेद भी बताये हैं – संशयित, अभिगृहीत (गृहीत) और अनभिगृहीत (अगृहीत)।'

(धवला 1/163)

ऐसा माना जाता है कि भगवान महावीर का जीव, जब मारीचि की पर्याय में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का पोता और चक्रवर्ती सम्राट भरत का पुत्र था, उन्हीं भगवान ऋषभदेव से दीक्षित होकर, वह उनके समवसरण में भी प्रतिदिन विराजमान रहता था। एक बार जब उसने भगवान की वाणी में सुना कि 'वह इसी चौबीसी का अन्तिम तीर्थंकर बनेगा' तो इस दिव्यध्वनि के वचन से असहमत होकर उसने गृहीत मिथ्यात्व के 363 मतों का प्रवर्तन किया था।

इन सभी 2, 5, 363 आदि भेद-प्रभेदों का गहन अध्ययन – षट्खण्डागम, गोम्मटसार, मोक्षमार्ग-प्रकाशक, छहढाला आदि ग्रन्थों में किया गया है; विद्वज्जनों से उनका अच्छी तरह अध्ययन करने का विशेष निवेदन है।

इस सम्बन्ध में समयसार की टीका में एक **प्रश्न** उठाया गया है कि **'यह जीव, कितने काल तक अज्ञानी अप्रतिबुद्ध मिथ्यादृष्टि रहता है?'**

इसका **समाधान** करते हुए आचार्यों ने लिखा है कि 'जब तक इस जीव की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, रागादि भावकर्मों और शरीरादि नोकर्मों में 'यह मैं हूँ' या 'ये मेरे हैं', 'यह मैं था' या 'ये मेरे थे' और 'यह मैं रहूँगा' या 'ये मेरे रहेंगे' – ऐसी इस जीव की त्रिकाल-सम्बन्धी बुद्धि होती है, तब तक वह अप्रतिबुद्ध रहता है।'[27]

इसी प्रकार वहीं अन्यत्र लिखा है कि 'जब तक यह जीव आत्मा और आस्रवों में विशेष अन्तर नहीं जानता है, तब तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि में प्रवर्तन करता है। क्रोधादि में प्रवर्तन करते हुए ही उसे कर्म का बन्ध होता है।'[28]

इत्यादि प्रकार से और भी अनेक तरह से अज्ञानी अप्रतिबुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव को आगम में परिभाषित किया है।

मिथ्यात्व में रहनेवाली विपरीतता को आगम में तीन प्रकार से बताया गया है – कारण-विपर्यास, स्वरूप-विपर्यास और भेदाभेद-विपर्यास। इन तीनों विपरीतताओं में प्रयोजनभूत विषयों में ही विपरीतता की मुख्यता समझना चाहिए, अप्रयोजनभूत विषयों में किसी प्रकार की भी भूल हमारे महा अकल्याण में निमित्त नहीं बनती, उनसे अधिकतम हमारा एक भव बिगडेगा, लेकिन प्रयोजनभूत की भूल हमारे

भव-भव बिगाडने में निमित्त बनेगी; अत: 1. कारण के सम्बन्ध में विपरीतता, **कारण-विपर्यास** कहलाती है। 2. वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में विपरीतता, **स्वरूप-विपर्यास** कहलाती है। 3. द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद-अभेद के सम्बन्ध में विपरीतता, **भेदाभेद-विपर्यास** कहलाती है। इनका अधिक विस्तार, आगम से जानना चाहिए।

भव्य, अभव्य आदि की अपेक्षा मिथ्यात्व के काल को अलग-अलग समझा जा सकता है। अभव्य जीव या दूरान्दूर भव्यों का मिथ्यात्व कभी नष्ट होता ही नहीं, इस अपेक्षा उनका यह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, अनादि-अनन्त होता है। जबकि भव्य जीव का मिथ्यात्व अनादि तो होता है, लेकिन उसका अन्त हो जाता है, इस कारण वह अनादि-सान्त कहलाता है। जिस जीव का सम्यक्त्व, एक बार होकर छूट जाता है, उसका वह मिथ्यात्व अनन्त काल तक नहीं रहता, इसलिए उसके मिथ्यात्व को सादि-सान्त कहते हैं। सादि-सान्त काल में कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक किंचित्-न्यून-अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन काल तक हो सकता है, उसके बाद वह जीव अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करता ही करता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में सादि-अनन्त का भंग कभी नहीं बनता, हाँ, एक बार जिस जीव को क्षायिक-सम्यक्त्व हो जाता है तो उसका वह सम्यक्त्व अवश्य सादि-अनन्त काल कहलाता है।

दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि यह गुणस्थान मिथ्यात्व का है अर्थात् अनेक दोषों का स्थान है, कर्मों की अपेक्षा दर्शनमोहनीय या मिथ्यात्वकर्म के उदय से होता है, अत: यह औदयिकभावरूप कहलाता है, यहाँ अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव होते हैं, मिथ्यादर्शन तो होता ही है, उसके साथ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होते हैं; तथापि हमारे वीतरागी दिगम्बर सन्तों ने इस गुणस्थान में भी कुछ 'गुण' देखा है, यही कारण है कि इसके नाम के साथ भी गुणस्थान शब्द जुडा हुआ है, क्योंकि इस गुणस्थान में रहकर ही सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ किया जाता है; अज्ञान के नाश का उपाय, इस गुणस्थान में रहकर ही किया जाता है, जिसे 'सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि' कहा जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि सम्यक्त्व-प्राप्ति हेतु किये जानेवाले तीन करण – अध:करण-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण भी इसी गुणस्थान में होते हैं, तदनुसार होनेवाला आत्मस्वरूप का सविकल्प स्वसंवेदन भी इसी गुण–स्थान में होता है, तत्पश्चात् ही आत्मानुभूतिरूप निर्विकल्प स्वसंवेदन के साथ निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

वृहद्द्रव्यसंग्रह की गाथा 34 के अन्तर्गत संवर का व्याख्यान करते हुए टीकाकार श्री ब्रह्मदेव सूरि ने 'अशुद्धनिश्चयनय में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग' का होना स्वीकार किया है और सिद्ध किया है; वे लिखते हैं –

''प्रश्न – अशुद्धनिश्चयनय के मध्य में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ और शुद्धरूप तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया। इस अशुद्धनिश्चय के अन्तर्गत शुद्धोपयोग किस प्रकार सिद्ध हो सकता है?

उत्तर – शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाव का धारक निजात्मा ध्येय होता है, उस कारण से शुद्ध-ध्येय होने से, शुद्ध अवलम्बन होने से एवं शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से 'शुद्धोपयोग' सिद्ध होता है। वह 'संवर' शब्द से वाच्य 'शुद्धोपयोग', संसार के कारणभूत मिथ्यात्व, राग आदि अशुद्धपर्याय के समान अशुद्ध नहीं होता और शुद्धोपयोग के फलभूत केवलज्ञानलक्षण शुद्धपर्याय के समान शुद्ध भी नहीं होता, किन्तु उन अशुद्ध और शुद्धपर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप, निश्चयरत्नत्रयात्मक, मोक्ष के कारण एकदेश-व्यक्तिरूप और एकदेश-निरावरण – ऐसी शुद्ध-अशुद्ध, दोनों पर्यायों से विलक्षण

तृतीय अवस्थारूप कहा जाता है। .... इससे यह सिद्ध होता है कि एकदेश निरावरण होने से, क्षायोपशमिक-ज्ञान-लक्षण एकदेश-व्यक्तिरूप विवक्षित एकदेश-शुद्धनय से 'संवर' शब्द से वाच्य 'शुद्धोपयोग'स्वरूप मुक्ति-कारण होता है।''

इस प्रथम गुणस्थान की परिणति, अनादिकाल से तो दर्शनमोह के उदय से होती ही आई है, लेकिन कदाचित् सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद भी हो जाती है, क्योंकि जो जीव, सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद मिथ्यात्व के उदय के कारण उसे छोड देता है तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही हो जाता है; क्योंकि मिथ्यात्व या दर्शनमोह के उदय से ही यह गुणस्थान होता है। इसी कारण मिथ्यादृष्टि जीवों के दो भेद, अनादि मिथ्यादृष्टि और सादि मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं।

खास बात यह है कि ऐसा सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी अधिक काल तक संसार में नहीं रह सकता है, वह भी अपनी योग्यतानुसार यथाशीघ्र अपना कल्याण कर ही लेता है, क्योंकि एक बार जिसने सम्यक्त्व-प्राप्ति का मार्ग खोज लिया है, उसे पुन: सम्यक्त्व-प्राप्ति में सरलता भी तो हो जाती है।

सम्यक्त्व होने पर एक बात और हो जाती है, वह है अनादिकालीन अखण्ड दर्शनमोह का उपशम करते समय ही उसकी एकता और अखण्डता विखण्डित होकर, उसके तीन टुकडे हो जाते हैं – मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति। इसका फायदा यह होता है कि अब यह जीव, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व के क्षयोपशम एवं सम्यक्-प्रकृति के उदय से क्षयोपशम-सम्यक्त्वरूप चौथा गुणस्थान और मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति के क्षयोपशम एवं सम्यक्-मिथ्यात्व के उदय से तीसरा गुणस्थान भी प्राप्त कर सकता है।

इस गुणस्थान का एक और सकारात्मक पहलू यह है कि सामान्यत: तो जीव, इस गुणस्थान से चौथे गुणस्थान में ही जाते हैं, लेकिन कदाचित् कोई-कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव, यहाँ से तीसरे गुणस्थान में, कोई-कोई सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी अणुव्रती श्रावक, यहाँ से पाँचवें गुणस्थान में और कोई-कोई सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि महाव्रती द्रव्यलिंगी मुनिराज, यहाँ से सातवें गुणस्थान में भी जा सकते हैं। ध्यान रहे – पाँचवें या सातवें गुणस्थान में जानेवाले वही जीव होते हैं, जो तत्त्वज्ञानपूर्वक भेदज्ञान एवं परिणाम-विशुद्ध करने में अत्यन्त दक्ष हो जाते हैं।

लेकिन यदि हम अन्य गुणस्थानों से इस गुणस्थान में आने की बात करें तो इस गुणस्थान में दूसरे से लेकर छठे गुणस्थान तक कहीं से भी सीधे आ सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ग्यारहवें गुणस्थान से भी क्रमश: गिरता हुआ कोई-कोई जीव, इस गुणस्थान तक पहुँच जाता है।

एक नियम यह भी है कि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव, नियम से मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को ही सम्यक्त्व-प्राप्त करने का अधिकार है; उनमें भी सभी को नहीं, केवल उन्हीं को, जो पंचलब्धिपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं। आगम में ऐसा कहा है कि 'जो भव्य हो, संज्ञी हो, विशुद्ध परिणामी हो, जागृत हो, पर्याप्त हो, साकार-ज्ञानोपयोगी हो और जिसके संसार का किनारा अत्यन्त निकट आ गया हो – ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव ही सम्यक्त्व-प्राप्त करने का अधिकारी है।'

काल अपेक्षा विचार करें तो मनुष्यों में सम्यक्त्व-प्राप्ति की योग्यता आठ वर्ष में आती है, अन्य संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंचों में यह योग्यता दो मास के बाद ही आ जाती है, लेकिन यदि वह सम्मूर्च्छन जन्मवाला तिर्यंच है तो उसमें यह योग्यता मात्र अन्तर्मुहूर्त में ही आ जाती है, जबकि देव और नारकियों

में तो सभी में अन्तर्मुहूर्त के बाद पर्याप्त होते ही यह योग्यता, स्वभावत: आ जाती है।

2. सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – यद्यपि– इस गुणस्थान का दूसरा क्रमांक माना गया है, तथापि पहले गुणस्थान के बाद इस गुणस्थान की प्राप्ति कदापि नहीं होती है; तात्पर्य यह है कि पहला, दूसरा आदि गुणस्थानों के क्रमों का कारण अलग है और उनकी प्राप्ति होने का कारण अलग। पहले गुणस्थान से तो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, पुरुषार्थ करके सीधे चौथे आदि गुणस्थानों की ही प्राप्ति करता है। यह दूसरा गुणस्थान तो तब प्राप्त होता है, जब कोई जीव, चौथे आदि गुणस्थानों से विशिष्ट परिस्थितियों में अनन्तानुबन्धी के उदय के कारण गिरता है तो उसे **सासादन गुणस्थान** कहते हैं।

'सासादन सम्यग्दृष्टि' का मतलब होता है कि आसादना अर्थात् विराधनासहित सम्यग्दृष्टि जीव। इस सासादन गुणस्थान की अवस्था को समझाते हुए आचार्यों ने 'सम्यक्त्वरूपी पर्वत से गिरे हुए उस व्यक्ति की उपमा दी है, जो मिथ्यात्वरूपी भूमि पर अभी पहुँचा नहीं है, लेकिन जिसे बीच में कोई सहारा भी नहीं मिलनेवाला है और जो अतिशीघ्र मिथ्यात्वरूपी भूमि पर अवश्य पहुँचनेवाला है।'

इस गुणस्थान में भी एक प्रकार का अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धान पाया जाता है, परन्तु वह मिथ्यात्वजनित न होकर, अनन्तानुबन्धीजनित होता है, क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व का उदय नहीं है, अनन्तानुबन्धी का ही उदय है।

यद्यपि इस गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यक्त्व के भाव से तो च्युत हो जाता है, तथापि उसके सम्यक्त्व का काल नष्ट नहीं होता है, क्योंकि जब औपशमिक-सम्यक्त्व के काल में जघन्य एक समय से लेकर उत्कृष्ट छह आवली तक काल शेष रहता है, तभी इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है – ऐसा नियम है। तात्पर्य यह भी है कि इस गुणस्थान को सिर्फ औपशमिक सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं अर्थात् वैसी योग्यता, क्षायिक सम्यग्दृष्टि में तो होती ही नहीं है, लेकिन क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि में भी नहीं होती। ध्यान रहे कि इस गुणस्थान में मिथ्यात्व का भी उदय नहीं आता है; यही कारण है कि इस गुणस्थान के नाम के साथ 'सम्यग्दृष्टि' शब्द अभी भी जुडा हुआ है।

इस गुणस्थान में इस जीव को जिस अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है; उसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र, दोनों का घातक माना जाता है, भले ही वह अभी मिथ्यादर्शन को प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के कारण वह सम्यग्दर्शन से तो वह छूट ही गया है, यही उसके सम्यग्दर्शन का घातकपना है और सम्यक्चारित्र तो उसके स्पष्टत: है ही नहीं। (धवला 5/197)

प्रवचनसार गाथा 201 की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन ने उसे इतने पर भी 'जिन' संज्ञा से विभूषित किया है, क्योंकि उसने अभी तक मिथ्यात्व को उदय में आने नहीं दिया है, उसे अभी तात्कालिकरूप से जीत रखा है, रोक रखा है।

जब यह औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव, चौथे से छठे गुणस्थान में से यथासम्भव किसी में भी अनन्तानुबन्धी चार कषायों में से किसी एक के उदय का अनुभव करता है तो वह गिरकर, दूसरे सासादन गुणस्थान में आ जाता है। लेकिन तीसरे गुणस्थानवाला जीव, कभी भी दूसरे गुणस्थान में नहीं आता है अर्थात् सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति में अकेले अनन्तानुबन्धी प्रकृति को आमन्त्रित करने की सामर्थ्य का अभाव है। हाँ, पहले गुणस्थान में जाने के बाद मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी का उदय भी हो ही जाता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान से भी तीसरे में जाने का अभाव है अर्थात् वह सम्यक्-मिथ्यात्वरूप मिश्र परिणाम को भी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी अनन्तानुबन्धी के उदय से उसकी सोचने-विचारने की शक्ति ही नष्ट हो जाती है; अत: सम्यक्-मिथ्यात्वरूप मिश्र परिणाम को भी

कैसे प्राप्त कर सकता है?

सासादन गुणस्थान की ऐसी दशा होती है कि इसमें एक बार जीव प्रवेश कर जाता है तो वह अवश्यम्भावी तौर पर प्रथम गुणस्थान में गिरता ही गिरता है। स्पष्ट है कि कोई भी जीव ऐसे परिणामों के तुरन्त बाद अपने परिणामों को सुधार ही नहीं सकता।

समझने के लिए इस गुणस्थान की तुलना, ग्यारहवें गुणस्थान से की जा सकती है; जैसे, ग्यारहवें गुणस्थानवाले मुनिराज ने क्षणिकरूप से चारित्रमोह को जीत रखा है, उसका उपशम कर रखा है; उसी प्रकार दूसरे गुणस्थानवाले ने भी दर्शनमोह को जीत रखा है, अभी उसके उपशम सम्यक्त्व का ही काल चल रहा है। यद्यपि ग्यारहवें गुणस्थान का भाव, औपशमिकभाव माना गया है; जबकि दूसरे गुणस्थान के भाव को पारिणामिकभाव माना गया है। जैसे, ग्यारहवें गुणस्थानवाले औपशमिकचारित्रवन्त मुनिराज भी अवश्य इस गुणस्थान से नीचे गिरते हैं, उसी प्रकार दूसरे गुणस्थानवाला जीव भी अवश्य गिरता है; फर्क सिर्फ इतना है कि ग्यारहवें गुणस्थानवाले औपशमिकचारित्रवन्त मुनिराज, गिरकर क्षायोपशमिकचारित्र अथवा संयमासंयम अथवा असंयत-सम्यक्त्व अथवा सम्यक्-मिथ्यात्व अथवा सासादन-सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में भी आ सकते हैं, जबकि दूसरे गुणस्थानवाले जीवों के पास गिरने का एक मिथ्यात्व गुणस्थान का ही विकल्प रहता है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी में परस्पर ऐसा अविनाभाव पाया जाता है कि वे एक-दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते; जब यह जीव, दूसरे गुणस्थान से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है तो अनन्तानुबन्धी का तो उदय तो उसके पहले से ही है, उसने अपने साथ मिथ्यात्व को भी आमन्त्रित कर लिया, लेकिन जब यह जीव, चौथे आदि या तीसरे से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है तो अविनाभावी तौर पर अनन्तानुबन्धी की भी उदयरूप अवस्था होती है। लेकिन एक परिस्थिति ऐसी भी बनती है कि जब ऐसा जीव, मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँचता है, जिसकी सत्ता में ही अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है अर्थात् अनन्तानुबन्धी की विसंयोजनावाला जीव, जब पहले गुणस्थान में पहुँचता है तो उस समय अन्तर्मुहूर्त काल तक तो अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं रहता, लेकिन उसके तुरन्त बाद उसका नवीन बन्ध होकर वह उदय में आ जाती है।

देखो, कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि मिथ्यात्व के निमित्त से बँधनेवाली सोलह प्रकृतियों (मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, जाति ४ – एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण) में अनन्तानुबन्धी का नाम नहीं है और अनन्तानुबन्धी के निमित्त से बँधनेवाली पच्चीस प्रकृतियों (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यंगायु, उद्योत, संस्थान ४ – न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन, संहनन ४ – वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच और कीलित) में मिथ्यात्व का नाम नहीं है। उक्त मिथ्यात्व-सम्बन्धी सोलह एवं अनन्तानुबन्धी-सम्बन्धी पच्चीस प्रकृतियों का सूक्ष्मता से अवलोकन करें तो उनके स्वभाव भी क्रमश: मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के निकट प्रतीत होते हैं। साथ ही संस्थान और संहनन के भेदों का अवलोकन करें तो उनसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के प्रभाव के अन्तर को भी समझा जा सकता है।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्वरूपी राजा के समान सामर्थ्यवान् भले ही न हो, लेकिन वह प्रधानमन्त्री के समान ताकतवर अवश्य है, क्योंकि इस गुणस्थानवाले ने मिथ्यात्वभाव को भले ही

प्राप्त नहीं किया हो, लेकिन वह सम्यक्त्वभाव से च्युत अवश्य हो गया है।

यहाँ **प्रश्न** है कि **जब द्वितीय गुणस्थान में दर्शनमोह का उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम कुछ भी नहीं है तो फिर जिनागम में प्रथम चार गुणस्थानों में से इस द्वितीय गुणस्थान में दर्शनमोह की प्रधानता क्यों और कैसे मानी गई है? जबकि यहाँ चारित्रमोहनीय का उदय विद्यमान है, लेकिन फिर भी उसके उदयजनित औदयिकभाव नहीं माना गया है?**

इसका **समाधान** हम इस प्रकार समझ सकते हैं –

1. पहले गुणस्थान में सादि या अनादि दर्शनमोह के उदयजनित औदयिकभाव है;

2. चौथे गुणस्थान में दर्शनमोह के उपशम-क्षय-क्षयोपशमजनित क्रमशः औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकभाव होता है;

3. तीसरे गुणस्थान में दर्शनमोह की मिश्रप्रकृति के उदयजनित मिश्रभाव है;

4. दूसरे गुणस्थान में दर्शनमोह के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम के अभाव में 'दर्शनमोह-सम्बन्धी पारिणामिकभाव' माना गया है;

यद्यपि यहाँ चारित्रमोह नामक अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकडी में किसी एक का उदय विद्यमान है, तथापि उसे मुख्य करके औदयिकभाव नहीं मानकर, दर्शनमोह की विवक्षा को ही मुख्य मानकर उसका 'पारिणामिकभाव' माना है, क्योंकि पाँच भावों में एक 'पारिणामिकभाव' भी होता है।

(देखें, धवला 5/197)

इसी बात को और समझाते हैं – जैसे, तृतीय-चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकडी के उपशमादि-जनित चारित्रिक भाव भी होते हैं, लेकिन तज्जनित भावों को इन गुणस्थानों का भाव नहीं माना है, वहाँ तो दर्शनमोह की विवक्षा होने से तत्सम्बन्धी क्रमशः सम्यक्-मिथ्यात्व एवं सम्यक्-प्रकृति के उदयजनित भाव को ही उस गुणस्थान का भाव माना गया है।

भावात्मक दृष्टि से इसे हम ऐसे भी कह सकते हैं कि पहले गुणस्थान में श्रद्धा मिथ्या होती है, चौथे गुणस्थान में श्रद्धा सम्यक् होती है, तीसरे गुणस्थान में श्रद्धा सम्यक् भी होती है और मिथ्या भी होती है, जबकि दूसरे गुणस्थान में श्रद्धा न सम्यक् होती है और न मिथ्या।

इस प्रकार प्रथम चार गुणस्थानों को दर्शनमोह की प्रमुखतावाले मानना योग्य है।

इसी अनन्तानुबन्धी-कषाय-सम्बन्धी महान अविशुद्धि के कारण इस प्रथम गुणस्थान के अत्यन्त निकट, लेकिन अशुद्धि में उससे कुछ कम, द्वितीय गुणस्थान का दर्जा प्राप्त हुआ है; यही कारण है कि गुणस्थानों के क्रम में पहले या बाद उत्पन्न होने की विवक्षा न मानकर, विशुद्धि-अविशुद्धि को आधार बनाया गया है। इसी आधार पर गुणस्थानों में मिथ्यात्व को पहला और अनन्तानुबन्धी को दूसरा क्रम प्राप्त हुआ है।

शंका – द्वितीय गुणस्थान में मरण तो हो सकता है, परन्तु वह जीव नरकगति में नहीं जाता, क्यों?

समाधान – इस प्रश्न का तार्किक समाधान यही प्रतीत होता है कि नरकगति का कारण मिथ्यात्व है, अनन्तानुबन्धी नहीं। यही कारण है कि इस गुणस्थान में मिथ्यात्व-सम्बन्धी 16 प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, जिनमें नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु का समावेश होता है। यहाँ अनन्तानुबन्धी-

सम्बन्धी 25 प्रकृतियों का बन्ध होता है, जिनमें तिर्यंच-त्रिक का समावेश तो होता है, लेकिन उक्त नरक-त्रिक में से एक भी प्रकृति उसमें नहीं आती है।

द्वितीय गुणस्थान के सम्बन्ध में एक नियम यह भी माना गया है कि **'तीर्थंकर और आहारकप्रकृति की सत्तावाला जीव, द्वितीय गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता।'** यदि इसके कारणों की खोज की जाए तो यह प्रतीत होता है कि **तीर्थंकर और आहारकप्रकृति** जैसी महान प्रकृतियों की सत्तावाले जीव को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आ भी कैसे सकता है? और उसके उदय के बिना जीव, सासादन गुणस्थान हो भी कैसे आ सकता है?

3. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – यह गुणस्थान, द्वितीय गुणस्थान से अधिक विशुद्धिवाला होने से इसे तृतीय गुणस्थान का दर्जा प्राप्त हुआ है। पहले दूसरा गुणस्थान होता है? और बाद में तीसरा गुणस्थान, अथवा पहले तीसरा गुणस्थान होता है? और बाद में दूसरा गुणस्थान होता है? इसका निर्णय, इस क्रम से नहीं किया जा सकता है। इस गुणस्थान को ऊपर चौथे से छठे गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान से गिरते हुए अथवा पहले गुणस्थान में यदि कोई सादि मिथ्यादृष्टि, दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति की सत्तावाला है, तो वह भी इस गुणस्थान में सीधे जा सकता है और वहाँ से चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है, इसी कारण इस तीसरे मिश्र गुणस्थान को चौथे गुणस्थान से हीन और दूसरे गुणस्थान से उच्च तीसरे गुणस्थान का दर्जा प्राप्त हुआ है।

इस गुणस्थान के दो नाम प्रसिद्ध हैं – मिश्र और सम्यक्-मिथ्यात्व। इस गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, दोनों से मिश्रित श्रद्धारूप प–रिणाम होते हैं; अत: उक्त दोनों नामों की सार्थकता भी इसी व्याख्या से हो जाती है। इस गुणस्थान के परिणामों को मिश्र या विशिष्ट क्षायोपशमिक कहने से इसकी 'जात्यन्तर' संज्ञा भी सार्थक हो जाती है अर्थात् न सम्यक्, न मिथ्या; कुछ मिश्रित स्वाद; आगम में इसके लिए गुड-मिश्रित-दही के स्वाद की संज्ञा दी है अर्थात् न मीठा, न खट्टा; लेकिन किसी जीव की ऐसी अवस्था स्वभावत: भी अधिक काल तक नहीं रह सकती; अत: इस गुणस्थान का जघन्य से लेकर अधिकतम काल भी मध्यम अन्तर्मुहूर्त ही माना गया है।

इस गुणस्थान में सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति का उदय होने पर भी औदयिकभाव नहीं माना है, क्योंकि स्वयं सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति में ही सम्यक्त्वभाव का निरन्वय नाश करने की सामर्थ्य नहीं होती; इसलिए इस गुणस्थान को विशिष्ट क्षायोपशमिकभाव कहना ही उचित है, लेकिन इतने से ही इस गुणस्थान में सम्यक्त्वभाव नहीं माना जा सकता है, अत: सम्यक्त्व की घातक होने से इस प्रकृति को भी सर्वघाति-प्रकृति ही माना गया है। इस गुणस्थान के क्षायोपशमिकत्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेनस्वामी, क्षायोपशमिकभाव की विशिष्ट परिभाषा लिखते हैं –

कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व के सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदयक्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से; सम्यक्त्वप्रकृति के देशघातिस्पर्द्धकों के उदयक्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से अथवा अनुदयरूप से उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय से सम्यग्मिथ्यात्वभाव होता है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व का क्षायोपशमिकपना सिद्ध होता है; किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो मिथ्यात्वभाव के भी क्षायोपशमिकपने का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वकर्म के सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदयक्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से; सम्यक्त्वप्रकृति के देशघातिस्पर्द्धकों के उदयक्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से

अथवा अनुदयरूप से उपशम से और मिथ्यात्वकर्म के सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय से मिथ्यात्वभाव की उत्पत्ति पाई जाती है। (धवला 5/198-199)

उनके अनुसार तीसरे गुणस्थान की परिभाषा इस प्रकार घटित होती है – 'यथास्थित अर्थ के श्रद्धान को घात करनेवाली शक्ति, जब सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के सर्वघातिस्पर्द्धकों में क्षीण हो जाती है–, तब उनकी क्षयसंज्ञा है। अत: क्षय का प्राप्त हुए स्पर्द्धकों के उपशम को अर्थात् प्रसन्नता को क्षयोपशम कहते हैं; उसमें उत्पन्न होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान, क्षायोपशमिक है। (विशेष देखें, धवला 5/200)

यहाँ **प्रश्न** सम्भव है कि **किसी जीव के ऐसे प–रिणाम कैसे सम्भव हैं कि वे सम्यक् भी हों और मिथ्या भी?**

इसका **समाधान** भी यही है कि इस गुणस्थान के प–रिणामों की अधिक स्प–ष्टता, छद्मस्थ के बुद्धिगोचर नहीं होने से उन्हें केवलीगम्य माना गया है।

इस गुणस्थान के परिणामों को 'जात्यन्तर' कहा होने से उसे सम्यक् और मिथ्या, दोनोंरूप कैसे कहा जा सकता है? इस सम्बन्ध में धवलाकार ने एक शंका-समाधान प्रस्तुत किया है –

शंका – जात्यन्तर (भिन्न-जातीयता) को प्राप्त सम्यग्मिथ्यात्वभाव में अंश-अंशीभाव नहीं है, इसलिए उसमें सम्यग्दर्शन का एकदेश नहीं है?

समाधान – अभेद की विवक्षा में सम्यग्मिथ्यात्व के भिन्न-जातीयता भले ही रहे आवे, किन्तु भेद की विवक्षा करने पर उसमें सम्यग्दर्शन का एक भाग है ही। यदि ऐसा न माना जाए तो इसके सम्यग्दर्शन का एक भाग (अंश) है ही। यदि ऐसा न माना जाए तो इसके जात्यन्तर मानने में विरोध आता है। (धवला 5/208)

इतनी विशेषता है कि जैसे, द्वितीय गुणस्थान के परिणामों में इतनी तीव्रता या संक्लेश होता है कि उनका सुधरना, किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होता है, उसे नीचे गिरना ही पडता है; लेकिन वैसे परिणाम, तीसरे गुणस्थान के नहीं होते हैं; यदि जीव चाहे तो इस गुणस्थान से वापस चौथे गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है और नीचे गिरकर पहले गुणस्थान में भी आ सकता है अर्थात् इस गुणस्थान से ऊपर या नीचे, दोनों तरफ जाने के रास्ते खुले हुए होते हैं। सीधी-सी बात है कि इस गुणस्थानवाले जीव के सम्यक्-मिथ्यात्वरूप मिश्रपरिणाम होते हैं, उससे छूटकर यदि उसके सम्यक्रूप परिणामों की मुख्यता हो जाती है तो वह सम्यक्त्वरूप चतुर्थ गुणस्थान में चला जाता है और यदि उसके मिथ्यात्वरूप परिणामों की मुख्यता हो जाती है तो वह मिथ्यात्वरूप पहले गुणस्थान में आ जाता है।

इसी प्रकार इस गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले औपशमिक और क्षायोपशमिक, दोनों प्रकार के सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव भी यदि दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों की सत्तावाला है तो वह भी सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति के उदय से प्रथम गुणस्थान से भी इस तृतीय गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, कभी इस गुणस्थान को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी सत्ता में ही सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति का अभाव है।

इस गुणस्थान से जीव, पहले या चौथे गुणस्थान में ही जाता है, क्योंकि उसकी उतनी विशुद्धि नहीं होती कि वह सीधे पाँचवें या सातवें गुणस्थान में चला जाए। यह भी है कि इस गुणस्थान से कोई भी जीव, दूसरे गुणस्थान में नहीं जाता है, क्योंकि ऐसे मिश्र-परिणामों से कोई जीव, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ में से कोई एक कषाय भी कैसे कर सकता है? क्योंकि इनमें से किसी एक के उदय

बिना दूसरा सासादन गुणस्थान बन ही नहीं सकता।

इस गुणस्थान के ज्ञान-चारित्र को भी सम्यक्-मिथ्यात्व अथवा मिश्र-सम्यक्त्व के समान मिश्र-ज्ञान एवं मिश्र-चारित्र माना जा सकता है अर्थात् मिथ्या भी और सम्यक् भी, क्योंकि ज्ञान और चारित्र के सम्यक् या मिथ्या का भेद श्रद्धान से ही माना गया है, ज्ञान और चारित्र स्वतन्त्ररूप से न सम्यक् होते हैं और न मिथ्या, अत: इस अवस्था में श्रद्धान, मिश्रभावरूप होने से ज्ञान और चारित्र को भी मिश्र ही मानना योग्य है।

इस गुणस्थान की एक विशेष बात जिनागम में मानी गई है कि इस गुणस्थान में रहते हुए किसी भी जीव का मरण नहीं होता है। सही तो है, जब तक यह जीव, किसी निर्णयात्मक स्थिति में नहीं पहुँच जाता, तब तक वह मरण को प्राप्त कैसे हो सकता है? अत: पहले या चौथे, जिस गुणस्थान में उस जीव ने आयु-बन्ध किया हो, उस गुणस्थान में आकर ही उसका मरण होता है।

इसी प्रकार इस गुणस्थान में सम्यक्-मिथ्यात्वरूप सन्देहास्पद स्थिति होने से मारणान्तिक समुद्घात या नवीन आयुबन्ध के योग्य भी उस जीव का परिणाम नहीं होता है तथा दूसरे गुणस्थान के समान, तीसरे गुणस्थान में भी तीर्थंकर-प्रकृति की सत्तावाला जीव कभी नहीं आता है, क्योंकि तीर्थंकर-प्रकृति के साथ उस जीव में वैसी योग्यता का अभाव होता है। इसे निरन्तर-बन्धी तीर्थंकर-प्रकृति की सत्ता का ही प्रभाव माना जाएगा कि उसके ऐसे परिणाम ही होते हैं, जो तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध करें।

4. अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान – जब किसी भव्य जीव की काललब्धि पकती है और वह संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, साकारोपयोग, विशुद्धपरिणाम, जागृत होता है; इसी प्रकार जिसका संसार का किनारा अत्यन्त निकट आ गया हो – ऐसा भव्य मिथ्यादृष्टि जीव ही सम्यक्त्व प्राप्त करने का अधिकारी होता है, वहाँ भी जो क्षयोपशम-विशुद्धि-देशना-प्रायोग्य-करण – ऐसे पंचलब्धिपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, वे ही यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु एवं तत्त्वार्थ-श्रद्धान पूर्वक स्व-परश्रद्धान एवं आत्मश्रद्धान करके निश्चयसम्यक्त्व सहित व्यवहारसम्यक्त्व प्राप्त करते हैं।

यद्यपि मनुष्यपर्याय में सम्यग्दर्शन की पात्रता हेतु हम गृहीत मिथ्यात्व के त्याग और अन्याय-अनीति-अभक्ष्य के त्याग को आधार बना सकते हैं, तथापि अन्य तिर्यंच-देव-नारकी आदि पर्यायों की सम्यग्दर्शन-सम्बन्धी योग्यताएँ, उनकी परिस्थिति के अनुसार ही तय की जा सकती हैं। एक ही नियम सर्वत्र नहीं लागू किया जा सकता है।

इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ अविरत क्यों? – यह गुणस्थान, अपने आप में बडी विचित्र स्थितिवाला है, इस गुणस्थानवाले जीव की श्रद्धा तो पूर्ण सम्यक् हो जाती है, लेकिन अभी वह संयम या व्रत का अंश भी धारण नहीं कर पाता है, क्योंकि इस जीव के सम्यक्त्व की बाधक दर्शनमोह-प्रकृति का तो अभाव (उपशम-क्षय-क्षयोपशम) हो जाता है, लेकिन उसके अभी चारित्रमोह नामक प्रकृति की अनन्तानुबन्धी कषाय का ही अभाव होता है, जिससे उसे आंशिक निश्चय-स्वरूपाचरण-चारित्र सहित व्यवहार-सम्यक्त्वाचरण-चारित्र की तो उपलब्धि हो जाती है, जिसके प्रभाव से निर्विकल्प स्वात्मानुभूति के साथ-साथ यह जीव, आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन, शंका आदि आठ मल-दोष आदि का त्याग करता है;[29] लेकिन उसे अभी अप्रत्याख्यानावरण-कषाय और प्रत्याख्यानावरण-कषाय के सद्भाव के कारण निश्चय-व्यवहार देश-संयमाचरण-चारित्र या सकल-संयमाचरण-चारित्र प्राप्त नहीं होता है; जिसके कारण वह न तो इन्द्रियों की प्रवृत्तियों से विरत होता है और न प्राणियों

की हिंसा से विरत होता है,[30] अत: आगे के अन्य निश्चय-व्यवहार सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यात आदि पाँच प्रकार के चारित्र की तो बात ही क्या करें? उनकी तो यहाँ इस गुणस्थान में सम्भावना ही नहीं की जा सकती है।

एक **तर्क** यह दिया जाता है कि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय की प्रकृतियाँ भी सर्वघाति हैं, अत: उनके सद्भाव में आंशिक चारित्र भी कैसे माना जा सकता है? इसीलिए चारित्र के पाँच भेदों में पंचम गुणस्थानवर्ती देशचारित्र या चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वाचरणचारित्र को चारित्र नहीं माना गया है।

इसका **समाधान** यह है कि जिस प्रकार तृतीय गुणस्थान में सम्यक्-मिथ्यात्व नामक सर्वघाति-प्रकृति के उदय होने पर भी इस गुणस्थान के भाव को जात्यन्तर मिश्र या क्षायोपशमिक ही माना गया है, क्योंकि यहाँ सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं होता है। (धवला 5/198-199)

इसी प्रकार पंचम गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण नामक सर्वघाति प्रकृति के सद्भाव में भी 'संयमासंयम' नामक पृथक् क्षयोपशमभाव की स्वीकृति, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 2/5 में भी स्वीकार की गई है; उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान में भी चारित्रमोह सम्बन्धी अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण नामक सर्वघाति-प्रकृतियों के सद्भाव और संयम या संयमासंयम के अभाव में भी अनन्तानुबन्धी नामक सर्वघाति-प्रकृति के अभाव और सम्यक्त्वाचरणचारित्र के सद्भाव में चारित्र का सद्भाव मानना आवश्यक है।

यद्यपि गोम्मटसार जीवकाण्ड की 27वीं गाथा का कथन, चतुर्थ गुणस्थान में संयम या संयमासंयम के अभाव का समर्थन तो कर रहा है, परन्तु चारित्र के अभाव का नहीं, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड की प्रारम्भिक 20 गाथाओं में चारित्र के भेदों के अन्तर्गत उसका स्पष्टत: समर्थन किया है।

जिस प्रकार दर्शनमोह की सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति, सर्वघाति होकर भी मिथ्यात्व की तुलना में उसके अनन्तवें भाग अनुभाग के बराबर है, फिर भी वह सम्यक्त्व का पूर्णरूप से घात करने पर भी मिथ्यात्व में नहीं पहुँचाती है, बल्कि सम्यक्त्व गुण का कथंचित् अंश वहाँ भी विद्यमान रहता है, तभी तो उसका सम्यक्-मिथ्यात्व नामक तीसरा गुणस्थान माना गया है, मिथ्यात्व से श्रेष्ठ तो वह है ही, उसे सासादन से भी अधिक श्रेष्ट माना गया है; उसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान में विद्यमान चारित्रमोह की अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण प्रकृतियाँ, सर्वघाति होने पर भी अनन्तानुबन्धी की तुलना में उससे क्रमश: अनन्तवें भाग अनुभागसहित हैं, अत: वे संयमासंयम और संयम का घात करने पर भी चारित्र का सर्वथा घात करने में समर्थ नहीं है, अर्थात् वे संयमाचरणचारित्र का घात करने पर भी सम्यक्त्वाचरणचारित्र का घात करने में समर्थ नहीं हैं।

जैसे, दर्शनमोह की देशघाति सम्यक्-प्रकृति, दर्शनमोह की ही सर्वघाति सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति की तुलना में उसके भी अनन्तवें भाग अनुभाग के बराबर होती है, फिर भी वह क्षायिक-सम्यक्त्व या औपशमिक-सम्यक्त्व का पूर्णरूप से घात करने पर भी क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व का घात करने में समर्थ नहीं होती है, उसी प्रकार चारित्रमोह की देशघाति-संज्वलन-प्रकृति, सर्वघाति प्रत्याख्यानावरण-प्रकृति की तुलना में उससे अनन्तवें भाग अनुभागसहित है, अत: वह यथाख्यातचारित्र का घात करने पर भी संयम का घात करने में समर्थ नहीं है।

इस प्रकार दर्शनमोह की सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियों के साथ चारित्रमोह की सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियों की परस्पर तुलना करके विषय-वस्तु को अच्छी तरह अवश्य समझना चाहिए।

हाँ, यदि वह सम्यग्दृष्टि, अपने पुरुषार्थ को बढाकर, श्रावक या मुनिदशा के साथ क्रमशः दो या तीन कषाय-चौकडी का भी अभाव कर देता है तो उसे निश्चय-व्यवहार देश-संयमाचरण-चारित्र या सकल-संयमाचरण-चारित्र की प्राप्ति भी हो सकती है।

यद्यपि इस गुणस्थानवाला जीव अविरत है, परन्तु यह अविरतपने का अन्तिम गुणस्थान है; अतः इस गुणस्थान की अविरति को प्रथम गुणस्थान की अविरति के समान नहीं कहा जा सकता, अरे! वास्तव में तो यहीं अविरति के नाश का भी सम्यक्-पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है और अविरति, इसी गुणस्थान में अन्तिम साँसें लेना प्रारम्भ कर देती है। इसी कारण इसके आगे के गुणस्थानों में 'व्रत' संज्ञा का प्रारम्भ हो जाता है। आगे बढते हुए चतुर्थ गुणस्थान के अन्तिम समय और पंचम गुणस्थान के प्रथम समय में एक समय का भी अन्तराल नहीं होता है, अलंकारिक भाषा में कहें तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि 'चतुर्थ गुणस्थान पूरा भी नहीं होता और पंचम गुणस्थान का प्रारम्भ हो जाता है।'

(विशेष देखें, धवला 5/201)

शंका – इस गुणस्थान में अविरति का नाश नहीं होता तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी कैसे सम्भव है?

समाधान – देखो, दोनों बातें अलग-अलग हैं, अविरति की दशा, यद्यपि संयम की घातक है, तथापि वह सम्यग्दर्शन की घातक नहीं है, बल्कि उसमें बाधक भी नहीं है। वास्तव में सम्यग्दर्शन तो यथार्थ तत्त्व-निर्णयपूर्वक आत्मानुभूति कराके, उसमें लीन होने के पुरुषार्थ को प्रेरित करता है, उसी सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक यथायोग्य संयम भी होता जाता है। यद्यपि कभी-कभी उसे प्राप्त करने में जीव को अधिक समय भी लग जाता है, लेकिन वहाँ भी 'देर है, अन्धेर नहीं' – यह उक्ति, चरितार्थ होती है। यदि सम्यग्दर्शन के माध्यम से यथार्थ तत्त्व-निर्णय या तत्त्व-श्रद्धान ही नहीं करेंगे तो आचरण के मार्ग पर किसके बल पर आगे बढेंगे? – इस विचारणीय तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है।

इस गुणस्थान में दर्शनमोह-प्रकृति की उपशम, क्षय, क्षयोपशम; इन तीन अवस्थाओं के निमित्त से सम्यक्त्व के तीन भेद बन जाते हैं; जिनके नाम क्रमशः औपशमिक-सम्यग्दर्शन, क्षायिक-सम्यग्दर्शन एवं क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन हैं। साथ ही इन तीनों सम्यग्दर्शन में अनन्तानुबन्धी-कषाय का अभाव होना भी आवश्यक है; अन्यथा सम्यग्दर्शन उत्पन्न ही नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बाधक-कारणों में उसका भी विशिष्ट स्थान है। अनन्तानुबन्धी की द्वि-स्वभावता (श्रद्धा और चारित्र, दोनों के घातक-स्वभाव) से भी यह समझा जा सकता है।

इतना ही नहीं, श्रद्धा सम्यक् होने पर अनन्त गुणों में आंशिक शुद्धता का प्रादुर्भाव हो जाता है। कहा भी है – **अनन्तगुणांश ते सम्यक्त्व**। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाले आत्मानुभव की महिमा गाते हुए पण्डित दीपचन्दजी शाह कासलीवाल ने लिखा है –

गुण अनन्त के रस सबै, अनुभव रस के मांहि।
तातैं अनुभव सारिखौ, और दूसरो नांहि।।[31]

इस प्रकार इस गुणस्थान से भव्यत्वशक्ति की अभिव्यक्ति का प्रारम्भ होता है, जिसके फल में सिद्धत्व की प्राप्ति होती है और यह भव्यात्मा, अन्तरात्मा और मिथ्यात्व के अभाव के कारण दृष्टि-मुक्त भी कहलाने लगता है।

प्रवचनसार की टीका[32] एवं समयसार की टीका[33] में आचार्य जयसेन ने स्पष्टरूप से **चतुर्थ गुणस्थान अथवा सम्यक्त्वोत्पत्ति में शुद्धोपयोग का होना अनिवार्य माना है।**

सम्यग्दर्शन का लक्षण बनाते समय सामान्यत: यही कहा जाता है कि जो सात प्रकृतियों के उपशम -क्षय-क्षयोपशम से होता है, वह सम्यग्दर्शन कहलाता है, परन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि के पास दर्शनमोह की मात्र एक ही प्रकृति और चार अनन्तानुबन्धी की प्रकृतियाँ मिलाकर, कुल पाँच प्रकृति के उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

इसमें विशेष इतना जानना कि सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाले अनिवृत्तिकरण के परिणामों में जब 'अन्तर-करण' होता है, तभी दर्शनमोह के अखण्ड निषेकों के बीच में ऊपर और नीचे के निषेकों में अन्तर (गैप) पड जाता है और तभी सत्ता में विद्यमान दर्शनमोह के तीन टुकडे भी हो जाते हैं –

1. मिथ्यात्व, 2. सम्यक्-मिथ्यात्व, 3. सम्यक्प्रकृति।

ये तीनों कोई स्वतन्त्र प्रकृतियाँ नहीं हैं, बल्कि उस एक दर्शनमोह प्रकृति में बहुभाग प्रदेशों का अनुभाग तो पूर्ववत् ही रह जाता है, उसे तो 'मिथ्यात्व' कहते हैं, कुछ का अनुभाग अनन्तगुना हीन हो जाता है–, उसे 'सम्यग्मिथ्यात्व' कहते हैं और कुछ का अनुभाग घटकर उससे भी अनन्तगुना हीन हो जाता है, उसे 'सम्यक्प्रकृति' कहते हैं।

तब इन तीनों ही भागों की अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए ऐसी मूर्च्छित सी अवस्था हो जाती है कि वे न उदयावली में प्रवेश कर पाते हैं और न ही उनका उत्कर्षण-अपकर्षण आदि हो सकता है। तब इतने मात्र काल के लिए उदयावली में से दर्शनमोह की तीनों ही प्रकृतियों का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसे ही 'उपशम-करण' कहते हैं। इसके होने पर जीव को 'उपशम-सम्यक्त्व' उत्पन्न हो जाता है।[34]

इनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि जिसका मिथ्यात्व परिणामों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह 'मिथ्यात्व-प्रकृति' है। जिसका सम्यक्-मिथ्यात्व परिणामों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह 'सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति' है तथा जो प्रकृति, सम्यक्त्व परिणामों के साथ रहने में भी समर्थ हो, उसे 'सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति' कहते हैं।

छह प्रकृतियों के उपशम की एकमात्र परिस्थिति तब बनती है, जब सादि मिथ्यादृष्टि जीव की दर्शनमोह की तीनों प्रकृतियों की परस्पर उद्वेलना (परस्पर मिलने की प्रक्रिया) होकर पुन: पूर्ववत् एक हो रही होती हैं, इस प्रक्रिया में जब वह एक सम्यक्त्व-प्रकृति की उद्वेलना करके उसे सम्यक्-मिथ्यात्व या मिथ्यात्व-प्रकृतिरूप कर चुका होता है, उस समय उसके पास मात्र मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति ही उदय में रह जाती है; लेकिन इस समय यदि यह जीव, सम्यक्त्व-प्राप्ति करता है तो वह मात्र दर्शनमोह की इन दो एवं अनन्तानुबन्धी चार – ऐसे छह प्रकृतियों के उपशमपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। लेकिन जब यह उद्वेलना का कार्य पूर्ण हो जाता है तो पुन: दर्शनमोह की एक अखण्ड प्रकृति हो जाती है, तब उसके बाद वह सादि मिथ्यादृष्टि भी दर्शनमोह की एक और अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियों का उपशम करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है – यह सिद्धान्त है।

एक जीव, अपने सम्पूर्ण अनादि-अनन्त जीवनकाल में असंख्यात बार औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, जबकि यदि वह क्षायिक-सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो उसे पुन: किसी अन्य सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि उसका सम्यग्दर्शन कभी छूटता ही नहीं है; इसलिए औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन का काल सादि-सान्त और क्षायिक-

सम्यग्दर्शन का काल सादि-अनन्त होता है। औपशमिक-सम्यग्दर्शन का काल तो जघन्य और उत्कृष्ठ अन्तर्मुहूर्त ही होता है, जबकि क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन का काल जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतम 66 सागर तक हो सकता है, उसमें भी विशेषता यह हो सकती है कि कोई जीव, अन्तर्मुहूर्त के लिए तीसरे या पहले गुणस्थान में आकर, पुन: 66 सागर तक क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन में रह सकता है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन के काल में जघन्य और उत्कृष्ठ का कोई भेद नहीं होता है, वह तो एक जैसा सादि -अनन्त ही होता है।

अनन्तानुबन्धी की व्याख्या करते समय यह कहा जाता है कि जिसका अनुबन्ध, अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ होता है, वह अनन्तानुबन्धी है। सम्यक्त्व होने पर अनन्तानुबन्धी की दो अवस्थाएँ होती हैं – 1. अप्रशस्त उपशम और 2. विसंयोजना। अप्रशस्त उपशम होने पर तो अनन्तानुबन्धी प्रकृति के उदय का अभाव होता है, यह तो प्रत्येक सम्यग्दृष्टि के होता ही है, जबकि विसंयोजना होने पर अनन्तानुबन्धी प्रकृति के परमाणु, अन्य अप्रत्याख्यानावरण आदि प्रकृतिरूप परिणमित हो जाते हैं, परन्तु कदाचित् मिथ्यात्व में आने पर, उसका पुन: बन्ध होकर वह उदय में आती है। विशेष बात यह है कि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने में तीन करण परिणाम भी होते हैं, उस समय गुण-श्रेणी-निर्जरा भी होती रहती है।

तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में सामान्यत: तत्त्वार्थश्रद्धान और सम्यक्त्वाचरण-चारित्र की समानता होती है, जिसके प्रभाव से वह 41 प्रकृतियों का बन्ध नहीं करता है, जिनमें मिथ्यात्व-सम्बन्धी 16 और अनन्तानुबन्धी-सम्बन्धी 25 प्रकृतियाँ हैं। विशुद्धि की अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक-सम्यग्दर्शन की निर्मलता तो समान होती है, जबकि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में चल-मल-अगाढ दोष लगते हैं।

सम्यग्दर्शन उत्प–न्न होने की प्रक्रिया में प–ंचलब्धियों का विशिष्ट स्थान है, प–रन्तु इन प–ाँच में से चार लब्धियाँ– तो अभव्य मिथ्यादृष्टि को भी हो जाती हैं, लेकिन यदि अन्तिम करणलब्धि में जीव प–हुँच जाता है तो उसका सम्यग्दर्शन प्राप्त करना सुनिश्चित हो जाता है – ऐसा जीव अन्तर्मुहूर्त में तीन करणों की प्रक्रिया से उत्तीर्ण होकर, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

तीन करणों के नाम निम्न प्रकार हैं – अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। 1. अध:करण के परिणाम तो पूर्वापर समान-असमान होते हैं।[35] 2. अपूर्वकरण में परिणाम अपूर्व-अपूर्व होते हैं, परन्तु इनमें अन्य जीवों की अपेक्षा विशुद्धि में किंचित् मात्र असमानता होती है। जबकि 3. अनिवृत्तिकरण के परिणामों में किंचित् मात्र भी असमानता नहीं होती है, अनेक जीवों के भी समान समयवर्ती परिणाम एक समान विशुद्धिवाले ही होते हैं।[36]

इन तीनों करण के परिणामों में विशुद्धता तो अनन्तगुनी बढती जाती है, लेकिन कर्मों की गुणश्रेणी-निर्जरा होने पर भी वह असंख्यातगुनी ही होती है। इसका कारण यह है कि भावों की विशुद्धता की इकाई (यूनिट) अविभागी-प्रतिच्छेद है, यह भावात्मक इकाई है, इसमें अनन्तगुनी विशुद्धि आवश्यक होती है, तभी मुक्ति मिलती है; जबकि कर्म-निर्जरा की इकाई कर्म-परमाणु है, उनमें प्रतिसमय अनन्त कर्म-परमाणुओं की निर्जरा तो होती है, परन्तु उनकी वृद्धि-दर असंख्यातगुनी ही होती है, तभी दोनों का समन्वय बन सकता है।

सम्यक्त्व-प्राप्ति के प्रसंग में अनिवृत्तिकरण के अन्तर्गत दो विशेष करण बीच में होते हैं –

अन्तरकरण और उपशमकरण। करण-परिणामों से यह तो निश्चित हो ही जाता है कि यह जीव, अब सम्यक्त्व प्राप्त करेगा ही करेगा, लेकिन वह अनिवृत्तिकरण के समय ही यह प्रायोगिकरूप में सुनिश्चित करता है कि सम्यक्त्व के समय दर्शनमोहनीय नामक बाधक कर्म उदय में न आ सके। इसके लिए वह 'अन्तरकरण' परिणामों के बल पर पहले से ही आगामी सम्यक्त्व के समय के दर्शनमोहनीय कर्म के उदय आने योग्य परमाणुओं को आगे-पीछे करके वहाँ अन्तर (गैप) का निर्माण करता है, ताकि सम्यक्त्व के समय कोई बाधक उपस्थित न रहे। इतना ही नहीं, वही जीव अनिवृत्तिकरण के समय ही 'उपशमकरण' के परिणामों के बल पर यह भी सुनिश्चित करता है कि सम्यक्त्व के बाद उदय आने योग्य दर्शनमोहनीय नामक बाधक कर्म उदीरित (उदीरणा को प्राप्त) होकर भी उदय में न आ सकें।

इस प्रकार पहले से ही सभी अनुकूल व्यवस्थाएँ करके वह जीव, निर्बाध होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व का कार्य सम्पन्न करता है।

इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर इस जीव की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं –

1. सर्वघाति मिथ्यात्व-प्रकृति का उदय आ जाने पर पुनः मिथ्यादृष्टि होकर पहले गुणस्थान में आ जाता है।

2. सर्वघाति अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी कोई एक कषाय के उदय से दूसरे सासादन गुणस्थान में आ जाता है।

3. देशघाति सम्यक्-प्रकृति के उदय से चौथे गुणस्थान में ही रहता है, लेकिन प्रथमोपशम सम्यक्त्व से छूटकर, क्षयोपशम सम्यक्त्व में पहुँच जाता है।

'क्षयोपशम' से तात्पर्य यह है कि जहाँ न क्षय जैसा क्षय हो अर्थात् उदयाभावी क्षय हो, न उपशम जैसा उपशम हो अर्थात् सदवस्थारूप उपशम हो और न उदय जैसा उदय हो अर्थात् देशघाति स्पर्द्धकों का उदय हो; इस प्रकार उदयाभावी क्षय अर्थात् जैसा सर्वघातिरूप कर्म है, वैसा फल नहीं देकर देशघातिरूप फल देना, 'उदयभावी क्षय' कहलाता है, सदवस्थारूप उपशम अर्थात् आगामी काल में उदय आने योग्य कर्मों को उदीरणारूप होकर पहले उदय में नहीं आने देना, 'सदवस्थारूप उपशम' कहलाता है और देशघाति का उदय अर्थात् जिसके फलस्वरूप किंचित् चल-मल-अगाढ जैसे, दोष लगते हैं – ऐसी मिली-जुली मिश्र अवस्था को 'क्षयोपशम' कहते हैं।

देखो! कहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्व में निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान होता है और कहाँ क्षयोपशम सम्यक्त्व में समल तत्त्वार्थश्रद्धान होता है – ऐसा दोनों में स्पष्ट अन्तर विद्यमान है। दर्शनमोहनीय की देशघाति सम्यक्-प्रकृति का वेदन होने के कारण इस क्षयोपशम सम्यक्त्व को 'वेदक सम्यक्त्व' भी कहते हैं। इस प्रकार प्रथमोपशम सम्यक्त्व का समय समाप्त होने पर जब वह छूटता है तो कभी-कभी सम्यक्त्व कायम रहकर भी यह समल हो जाता है, इसी कारण आगम में कहीं-कहीं यह भी कहा जाता है कि उपशम सम्यक्त्व के पश्चात् यह जीव, गिरता ही गिरता है।

हाँ, ऐसा भी होता है कि किसी-किसी जीव को अनन्तानुबन्धी कषाय में से किसी एक के उदय के कारण दूसरे गुणस्थान में भी गिरना होता है, लेकिन ऐसा माना जाता है कि उस समय भी सम्यक्त्व का काल तो चल रहा होता है, इसी कारण दूसरे गुणस्थानवाले जीव को 'सासादन मिथ्यादृष्टि' न कहकर, 'सासादन सम्यग्दृष्टि' कहते है; फिर भी वह जीव, वहाँ से गिरकर प्रथम गुणस्थान में गिरता

ही गिरता है।

ऐसा भी होता है कि कभी-कभी कोई जीव, सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में भी आ जाते हैं। अथवा इस गुणस्थानवाला जीव, यदि कदाचित् किसी अजानकार गुरु के निमित्त से कभी अतत्त्व को तत्त्व या तत्त्व को अतत्त्व भी जान/मान लेता है, लेकिन यदि उसे आगम-सूत्र के माध्यम से सत्य का ज्ञान कराया जाता है तो वह अपनी गलती स्वीकार कर लेता है, यदि वह फिर भी अपनी भूल स्वीकार नहीं करता है और अपनी जिद पर अडे रहता है तो उसी क्षण से वह पुन: मिथ्यादृष्टि हो जाता है।[37] इसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, एक आस्थावान् होने की प्रक्रिया है, अल्पज्ञान या विशेष क्षयोपशम के सूचक सत्यासत्य ज्ञान से उसका ज्यादा लेना-देना नहीं है।

ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन, यद्यपि अनन्त जीवों में किसी एक को ही होता है, तथापि त्रिलोकस्वरूप सकल विश्व में ऐसे सम्यग्दृष्टि महात्मा पुरुष भी कम नहीं हैं, असंख्यात हैं। जहाँ स्वर्ग और नरक में भी सम्यग्दृष्टियों की संख्या सामूहिकरूप से भी असंख्यात है, वहीं प्रत्येक-प्रत्येक में भी असंख्यात है। प्रथम नरक से लेकर सप्तम नरक तक अलग-अलग असंख्यात सम्यग्दृष्टि भरे पडे हैं, खास बात यह है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन को छोडकर, अन्य किसी सम्यग्दर्शन को लेकर कोई भी जीव नरक नहीं जाता, तथापि वेदना आदि के निमित्त से वहाँ असंख्य जीव, पूर्ववर्ती देशना का निमित्त पाकर, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं।

शास्त्र में यह भी कहा है कि यदि किसी जीव को औपशमिक-सम्यग्दर्शनपूर्वक क्षायोपशमिक-सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो और वह निरन्तर कायम रहता है, बीच में छूटता नहीं है तो वह जीव, अधिकतम सात-आठ भव में और यदि उसे क्षायिक-सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया हो तो तीन-चार भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इस अविरत-सम्यक्त्व नामक गुणस्थान की इससे अधिक महिमा और क्या की जा सकती है कि इस गुणस्थान में रहकर यह जीव, 'तीर्थंकर' नामक नामकर्म की प्रकृति का भी बन्ध कर सकता है तथा यह भी नियम है कि इस निरन्तर-बन्धी प्रकृति का बन्ध, केवल आठवें गुणस्थान के आठ में से छठे भाग तक ही हो सकता है, जबकि इस प्रकृति का उदय कभी भी तेरहवें गुणस्थान के पहले नहीं आता है और चौदहवें गुणस्थान में भी इस प्रकृति का उदय रहता है।

इस गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है और यदि उसके कारणों की खोज की जाए तो सम्यग्दर्शन से प्राप्त विशुद्धि अर्थात् सोलह-कारण-भावनाओं में प्रथम दर्शन-विशुद्धि-भावना ही इसका मुख्य कारण प्रतीत होती है, क्योंकि अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव को आगे की कोई-कोई भावनाएँ नहीं भी होती हैं, फिर भी उसके तीर्थंकर प्रकृति बाँधने में कोई बाधा नहीं आती है; जैसे, इस गुणस्थान में शील-व्रतों का अनतिचार पालन, शक्तित: तप-त्याग, साधु-समाधि आदि भावनाएँ सम्भव ही नहीं हैं। आगम का भी यही निर्देश है कि दर्शन-विशुद्धि तो आवश्यक है, बाकी हों तो अच्छी बात है, न हों तो भी कोई बात नहीं।

हाँ, तीर्थंकर-प्रकृति बाँधने की एक और आवश्यक शर्त यह है कि उसे केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में कर्मभूमि का मनुष्य ही बाँधना प्रारम्भ कर सकता है, लेकिन उसे पूरा करने में अविरत सम्यग्दृष्टि को कोई भी बाधा नहीं है। वह तो केवली या श्रुतकेवली के प्रति परम श्रद्धावन्त होता ही है। एक खास बात यह भी है कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करनेवाला एवं उसकी सत्तावाला जीव,

मनुष्य से मनुष्य या मनुष्य से तिर्यंच तो नहीं बन सकता, लेकिन मनुष्य से देव या नारकी तो बन सकता है और वहाँ से वापिस मनुष्य पर्याय में साक्षात् तीर्थंकरत्व प्राप्त करके, तीर्थंकर के कर्तव्य निभाकर, मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इस गुणस्थान से किसी भी जीव का गमन, ऊपर पाँचवें या सातवें गुणस्थान में और नीचे पहले, दूसरे या तीसरे में गुणस्थान में हो सकता है। जबकि इस गुणस्थान में किसी भी जीव का आगमन, नीचे पहले या तीसरे गुणस्थान से और ऊपर पाँचवें या छठे गुणस्थान से हो सकता है। लेकिन यदि किसी जीव का मरण हो रहा हो तो वह उपशमश्रेणी में चढते या उतरते समय कभी भी अथवा सातवें गुणस्थान में भी मरण का प्राप्त होकर, इस गुणस्थान में आ जाता है। इतना विशेष है कि चढते समय सातिशय अप्रमत्तवाले जीव से आठवें के प्रथम भाग तक मरण नहीं होता है। अथवा हम कह सकते हैं कि जिस जीव का मरण होनेवाला हो, वह जीव, गुणस्थान आरोहण प्रारम्भ करने का पुरुषार्थ ही नहीं कर पाता है।

5. संयतासंयत गुणस्थान – जिस प्रकार तीसरे मिश्र गुणस्थान में सम्यक्श्रद्धा और मिथ्याश्रद्धा का मिश्रभाव होता है, उसी प्रकार वहाँ उपचार से सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का तथा सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्र का भी मिश्रभाव होता है; इसी प्रकार आगे भी श्रद्धा-सम्बन्धी मिश्रभाव 'क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व' के नाम से चौथे से सातवें गुणस्थान तक, ज्ञान-सम्बन्धी क्षायोपशमिक-मिश्रभाव, 'क्षायोपशमिक -अल्पज्ञान' के रूप में पहले से बारहवें गुणस्थान तक, और चारित्र-सम्बन्धी क्षायोपशमिक-मिश्रभाव, 'क्षायोपशमिक-चारित्र' के रूप में संयमाचरण-चारित्र की दृष्टि से छठे-सातवें गुणस्थान में, सम्यक्त्वाचरण-चारित्र की दृष्टि से चौथे से सातवें गुणस्थान तक और वास्तविक दृष्टि से चौथे से दसवें गुणस्थान तक होता है, उसके आगे यथाख्यात औपशमिक या क्षायिकचारित्र होता है, अत: क्षायोपशमिकचारित्र का भी अभाव हो जाता है।

यद्यपि पाँचवें 'संयतासंयत' गुणस्थान में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो सम्यक् हैं, लेकिन संयम के सम्बन्ध में संयम-असंयम का मिश्रभाव, पाँचवें गुणस्थान में ही होता है, क्योंकि ऐसी परिस्थिति अन्यत्र नहीं होती है। इतना ही नहीं, पंचम गुणस्थान के मिश्रभाव को तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के पाँचवें सूत्र में वर्णित क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेदों में विशिष्ट प्रकार का अलग से अठारहवाँ भेद 'संयमासंयम' नामक क्षयोपशमभाव माना है। जबकि वहीं श्रद्धा-सम्बन्धी मिश्रभाव को 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' के नाम से और चारित्र-सम्बन्धी मिश्रभाव को 'क्षायोपशमिक चारित्र' के नाम से स्पष्ट किया गया है। 'संयमासंयम' को न सम्यक्त्व का और न चारित्र का क्षयोपशमभाव माना है, उसे एक विशेष प्रकार का क्षायोपशमभाव माना गया है, क्योंकि इसमें सर्वघाति अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तो क्षयोपशम है और प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है, जबकि वह सर्वघातिप्रकृति है, उसके उदय में तो औदयिकभाव होता है, लेकिन उसे यहाँ क्षायोपशमिकभाव माना है।

सामान्यतया क्षयोपशमभाव में जिस प्रकृति का उदय होता है, वह देशघाति-प्रकृति होती है, लेकिन यह अपवादस्वरूप क्षयोपशमभाव माना गया है। वास्तव में इस गुणस्थान में, इस गुणस्थान के योग्य जितना कषाय का अभाव है, वह तो निश्चय से अणुव्रत या प्रतिमा है, लेकिन जितना कषाय या राग का सद्भाव है, उसे व्यवहार से अणुव्रत या प्रतिमा कहा गया है तथा इस गुणस्थान के योग्य जो बाह्य शारीरिक शुभाचरण है, वह द्रव्य से प्रतिमा कहलाती है। जिस प्रकार निश्चय के बिना व्यवहार कार्यकारी नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए।

यद्यपि गुणस्थानों में विशुद्धि के अनुसार संयम का विधान, उत्तरोत्तर क्रम में पहले देशसंयम, पाँचवें गुणस्थान में और पूर्णसंयम, आगे छठे-सातवें गुणस्थान में माना गया है; तथापि जिनागम में उपदेश शैली के अन्तर्गत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[38] आदि ग्रन्थों में सर्वप्रथम महाव्रत के उपदेश का विधान स्वीकृत किया गया है, अन्यथा उपदेश देनेवाले को दण्ड के योग्य माना गया है, क्योंकि यदि उपदेशदाता ने महाव्रत के पहले अणुव्रत का उपदेश दिया और कोई मुमुक्षु साधक, जो महाव्रत अंगीकार कर सकता था और उनके उपदेश से प्रभावित होकर अणुव्रत में ही सन्तुष्ट हो जाता है तो वह महा अनर्थकारक होगा, अत: ऐसे उपदेश देनेवाले को प्रायश्चित्त (दण्ड) का विधान बताया गया है। इस तरह महाव्रत का उपदेश पहले और देशविरत या अणुव्रत का उपदेश बाद में देने का विधान प्रतिपादित है, वही उचित भी है; लेकिन ऐसे उपदेश-क्रम में महाव्रत के बाद अणुव्रत का उपदेश देने से महाव्रतों की विशुद्धि कम और अणुव्रतों की विशुद्धि अधिक तो नहीं हो जाएगी न?

इस प्रकार देशव्रत का विधान, एक समझौते का मार्ग है। जैनधर्म में व्रती श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाएँ बताई गई हैं; उसके अन्तर्गत हम कह सकते हैं कि यह समझौता, उन्हें भी महाव्रतों के उत्कृष्ट मार्ग के उपदेश से प्रारम्भ होकर, ग्यारहवीं उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा में ऐलक-क्षुल्लक के उपदेश से होता हुआ, धीरे-धीरे नीचे आते-आते पहली दर्शन प्रतिमा पर विश्राम पाता है अर्थात् देशव्रती श्रावक की उत्कृष्टतम अवस्था ग्यारहवीं उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा है और न्यूनतम अवस्था दर्शन प्रतिमा है। उसके बाद भी जब सफलता नहीं मिलती तो अविरति रहते हुए भी सम्यक्त्व अंगीकार करने की प्रेरणा के साथ विराम पाता है। इस उपदेश-क्रम को हम इस प्रकार विस्तार से समझ सकते हैं –

जब कोई मुमुक्षु साधक, दु:खों से मुक्त होने की इच्छा एवं आत्म-कल्याण की भावना से आचार्य महाराज के पास जाता है तो वे उसे श्रामण्य अंगीकार करने का ही उपदेश देते हैं, यदि वह मुनि बनना स्वीकार करता है तो आचार्य महाराज उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा करते हैं[39] और वह भी आचार्य महाराज की परीक्षा करता है,[40] उसके बाद उस साधक की विधिपूर्वक दीक्षा सम्पन्न होती है।

यदि वह साधक, मुनि-दीक्षा लेने में अपनी असमर्थता व्यक्त करता है तो आचार्य उसे पहले ऐलक (मात्र लंगोट अर्थात् एक वस्त्रधारी) और बाद में क्षुल्लक (मात्र लंगोट एवं छोटी चादर अर्थात् दो वस्त्रधारी) बननेरूप ग्यारहवीं 'उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं; उद्दिष्ट अर्थात् उद्देशित या निर्देशित करना। अत: उद्दिष्ट-त्याग अर्थात् अपने उद्देश्य से आहार, आवास आदि बनवाने के लिए न स्वयं निर्देशित करना और न उन श्रावकों के निर्देशित करने पर या उनके व्यक्तिगत बुलाने पर, स्वयं श्रावक के घर, आहार या आवास आदि के उद्देश्य से जाना यह उद्दिष्ट-त्याग का सामान्य स्वरूप है।

लेकिन जब वह श्रावक, उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा लेने के लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे उससे छोटी गृहस्थोचित कार्यों में अनुमति नहीं देनेरूप दसवीं 'अनुमति-त्याग प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं। कोई-कोई साधक तो उसे स्वीकार भी कर लेते हैं।

उक्त दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाओं को ग्रहण करनेवाला श्रावक, 'उत्कृष्ट श्रावक' कहलाता है।

लेकिन यदि कोई श्रावक, अनुमति-त्याग प्रतिमा लेने के लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे समस्त परिग्रह से विरक्त रहनेरूप नौवीं 'परिग्रह-त्याग प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, जब वह उसके लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे आठवीं 'आरम्भ-त्यागरूप प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, जब वह उसके लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे उससे छोटी सातवीं 'ब्रह्मचर्य प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं।

उक्त सातवीं से नौवीं प्रतिमाओं को ग्रहण करनेवाला श्रावक, 'मध्यम श्रावक' कहलाता है।

लेकिन यदि कोई श्रावक, जब उक्त सातवीं प्रतिमा लेने के लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे उससे छोटी छठी 'दिवा-मैथुन-त्याग या रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, इस प्रतिमा का तात्पर्य यह है कि 'जो कार्य, दिन में करने योग्य है--, उसे रात्रि में नहीं करना और जो कार्य, रात्रि में करने योग्य है--, उसे दिन में नहीं करना।' लेकिन यदि वह श्रावक उसे लेने के लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे पाँचवीं 'सचित्त-त्याग प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, इस प्रतिमा में सामान्यतया हरितकायवाली वस्तुओं के भक्षण करने का त्याग होता है।

जब वह उसके लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे उससे छोटी चौथी 'प्रोषधोपवास प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, इसमें प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशी के दिन उत्कृष्ट रीति से उपवास किया जाता है, जिससे गृह-ममत्व-त्याग, शरीर-ममत्व-त्याग आदि की प्रेरणा मिलती है। जब वह उसके लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे उससे छोटी तीसरी 'सामायिक प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, इसमें प्रतिदिन त्रिकाल सामायिक का विधान होता है।

जब वह उसके लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे उससे छोटी दूसरी 'व्रत प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, इसमें उक्त सभी महाव्रतों एवं प्रतिमाओं का एकदेश धारण करनेरूप व्रत होता है। लेकिन जब वह उसके लिए भी तैयार नहीं होता तो आचार्य उसे उससे छोटी पहली 'दर्शन प्रतिमा' लेने का उपदेश देते हैं, इसमें उक्त सभी व्रतों का अभ्यास करनेरूप प्रतिज्ञा और उन्हें दार्शनिक दृष्टि से श्रद्धान के स्तर पर धारण किया जाता है।

इस प्रकार उक्त पहली से छठी प्रतिमा तक को ग्रहण करनेवाला पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक, 'जघन्य श्रावक' कहलाता है।

इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं के नाम आगम में निम्न गाथा में प्राप्त होते हैं -

दंसण-वय-सामाइय-, पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य।
बंभारंभ-परिग्गह-, अणुमण-उद्दिट्ठ देसविरदो य।।[41]

अर्थात् 1. दर्शन प्रतिमा, 2. व्रत प्रतिमा, 3. सामायिक प्रतिमा, 4. प्रोषधोपवास प्रतिमा, 5. सचित्त-त्याग प्रतिमा, 6. रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा, 7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा, 8. आरम्भ-त्याग प्रतिमा, 9. परिग्रह-त्याग प्रतिमा, 10. अनुमति-त्याग प्रतिमा और 11. उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा - ये ग्यारह प्रतिमा हैं। इन ग्यारह प्रतिमाओं की यह समानता है कि उक्त सभी प्रतिमाधारियों के मात्र दो कषाय-चौकडी का ही अभाव होता है। हाँ, उत्तरोत्तर विशुद्धि की अधिकता के कारण तदनुकूल वीतरागता, कषाय की मन्दता एवं बाह्य आचरण की वृद्धि होने से वे क्रमश: तीन कषाय-चौकडी के अभाव के सन्मुख माने जा सकते हैं।

चारित्रमोह-सम्बन्धी क्रोधादि चार कषायों की उनकी तीव्रता-मन्दता के आधार पर चार श्रेणियाँ मानी गई हैं - 1. अनन्तानुबन्धी, 2. अप्रत्याख्यानावरण, 3. प्रत्याख्यानावरण, 4. संज्वलन। इनके नामों में ही इनके कार्यों का उल्लेख समाहित है।

1. जिस कषाय-चौकडी का अनन्त मिथ्यात्व के साथ अविनाभावी अनुबन्ध है, सम्बन्ध है तथा जो स्वरूपाचरण-चारित्र या निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्वाचरण-चारित्र की घातक कषाय-चौकडी है;

जिसके होने पर निर्विकल्प शुद्धात्मात्मानुभूति अथवा आंशिक शुद्धोपयोग भी नहीं होता है, वह 'अनन्तानुबन्धी कषाय' कहलाती है।

2. अप्रत्याख्यान अर्थात् किंचित् त्याग या एकदेश-चारित्र या देश-चारित्र, उसकी घातक अप्रत्याख्यानावरण अर्थात् निश्चय-व्यवहार देश-चारित्र पर आवरण डालनेवाली कषाय-चौकडी, 'अप्रत्याख्यानावरण कषाय' कहलाती है।

3. प्रत्याख्यान अर्थात् सकल त्याग या सकल-चारित्र, उसकी घातक प्रत्याख्यानावरण अर्थात् निश्चय-व्यवहार सकल-चारित्र पर आवरण डालनेवाली कषाय-चौकडी, 'प्रत्याख्यानावरण कषाय' कहलाती है।

4. संज्वलन अर्थात् जो संयम के साथ भी जलती रहती है – ऐसी कषाय-चौकडी अर्थात् जिसमें निश्चय-व्यवहार संयम का घात करने की सामर्थ्य तो नहीं होती है, बल्कि जो देशघाति होने के कारण क्षयोपशम-चारित्र के साथ-साथ अपना बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक कषाय-कार्य भी करती रहती है, लेकिन जिसके होने पर औपशमिक या क्षायिक यथाख्यात-चारित्रस्वरूप उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता, वह 'संज्वलन कषाय' कहलाती है।

इन सभी कषाय-चौकडियों का क्रमश: अभाव, चौथे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान के बीच में होता रहता है। चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय-चौकडी का नाश होकर सम्यक्त्व सहित निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्वाचरण-चारित्र का ग्रहण होता है, पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चौकडी का नाश होकर सम्यक्त्व सहित निश्चय-व्यवहार देश-चारित्र का ग्रहण होता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय-चौकडी का नाश होकर सम्यक्त्व सहित निश्चय-व्यवहार सकल-चारित्र का ग्रहण का ग्रहण होता है। सातवें गुणस्थान में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्व सहित सातिशय अप्रमत्त अवस्था प्राप्त करके आठवें से लेकर ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान तक संज्वलन एवं नोकषायों का अभाव करके निश्चय-व्यवहार यथाख्यातचारित्र का ग्रहण होता है।

इस विषय में एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड में सम्यक्त्वाचरणचारित्र को चतुर्थ गुणस्थान से स्वीकार किया है, परन्तु धवला, गोम्मटसार आदि में 'चारित्तं णत्थि जदो' आदि कहकर चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होता – ऐसा कहा है। पंचम गुणस्थान के चारित्र को तो उन्होंने स्वीकृति दी है, परन्तु चतुर्थ गुणस्थान के चारित्र को स्वीकृति नहीं दी है – ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी इस विषय पर अभी शोधकार्य गतिमान है। अथवा दोनों मान्यताओं को इसी प्रकार 'जैसा है वैसा' स्वीकार करना ही एकमात्र उपाय शेष रह जाता है। (विशेष देखें, धवला 5/202-203)

यहाँ हम विशेषरूप से पंचम गुणस्थान की चर्चा कर रहे हैं। इस गुणस्थान में प्रयुक्त 'संयत' शब्द आदिदीपक है अर्थात् इसके पहले के गुणस्थान असंयत के और आगे के सभी गुणस्थान संयत जीवों के ही हैं। यह गुणस्थान, संयत और असंयत, दोनों के मिश्र का है, इनके सन्धिकाल का गुणस्थान होने से इसका नाम 'संयतासंयत' सार्थक है। इस 'संयतासंयत' गुणस्थान के दूसरे पर्यायवाची नाम हैं – देश-विरत, देश-संयम, देश-चारित्र, संयमासंयम, विरताविरत इत्यादि। इसी अवस्था के स्थूलरूप से ग्यारह प्रतिमारूप भेद हैं, सूक्ष्मता से देखा जाए तो एक-एक प्रतिमा के भी असंख्य-असंख्य भेद सम्भव हैं।

प्रतिमा को परिभाषित करते हुए पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के 'गुणस्थान अधिकार'

में एक दोहा लिखा है, जो इस प्रकार है –

संयम अंश जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा कौ भयौ, 'प्रतिमा' ताकौ नाम।।

अर्थात् जहाँ संयम का अंश जागृत हुआ है, भोगों के प्रति अरुचि का परिणाम उत्पन्न हुआ है, और प्रतिज्ञा लेने का भाव उदित हुआ है; इसी अवस्था का नाम 'प्रतिमा' है।

इस गुणस्थान में तीनों प्रकार के सम्यक्त्व हो सकते हैं। क्षयोपशम-सम्यक्त्व और क्षायिक-सम्यक्त्व तो हो ही सकते हैं, लेकिन औपशमिक-सम्यक्त्व, सिर्फ उत्पत्तिकाल में ही हो सकता है।

इस गुणस्थान के काल का विचार करें तो जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट काल एक कोटि पूर्व से कुछ कम और मध्यम काल, इन दोनों के बीच असंख्यात भेदवाला हो सकता है।

इस गुणस्थान से यह जीव, गमन की दृष्टि से ऊपर चढकर सातवें में और गिरकर पहले, दूसरे, तीसरे या चौथे में जा सकता है। जबकि आगमन की दृष्टि से इस गुणस्थान में पहले, चौथे और छठे गुणस्थान से आ सकता है।

एक विशेष बात यह है कि नरकगति में तो इस गुणस्थान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती, स्वर्गगति में भी इस गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि उक्त दोनों गतियों में संयम या संयमासंयम का अभाव है। लेकिन तिर्यंच गति में यह जीव, इस पंचम गुणस्थान की प्राप्ति कर सकता है, क्योंकि यह आगम-वचन है कि स्वयम्भूरमण समुद्र में असंख्यात तिर्यंच, पंचम गुणस्थानवाले आज भी विद्यमान हैं, हमेशा से हैं और हमेशा रहेंगे भी।

6. प्रमत्त-संयत गुणस्थान – इस गुणस्थान में भी संयत-असंयत की जोडी के समान प्रमत्त और संयत की जोडी है, क्योंकि इस गुणस्थान में प्रमाद और संयम दोनों होते हैं। आश्चर्य है कि कोई जीव, संयत और प्रमादी एकसाथ कैसे हो सकता है? लेकिन इस गुणस्थान में उनके साथ रहने में विरोध भी नहीं माना गया है। यद्यपि यह गुणस्थान, पहले, चौथे या पाँचवें गुणस्थान से सीधे प्राप्त नहीं होता, बल्कि सातवें गुणस्थान से नीचे आते हुए ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। हाँ, इस गुणस्थान से यह जीव, ऊपर सातवें गुणस्थान में और नीचे पहले से पाँचवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में यथायोग्य परिणामानुसार जा सकता है।

यद्यपि यह गुणस्थान, प्रारम्भ में भले ही गिरने का मान्य किया गया हो, लेकिन इस गुणस्थान को हजारों बार प्राप्त हुए बिना अर्थात् हजारों बार छठे-सातवें गुणस्थान में झूले बिना कोई भी जीव श्रेणी-आरोहण नहीं कर सकता और श्रेणी-आरोहण के बिना कोई भी जीव, मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता – यह नियम है। इस प्रसंग में यह बताना उचित है कि चौदह गुणस्थानों में मुक्ति प्राप्त करने के लिए दूसरा-तीसरा-चौथा-पाँचवाँ और ग्यारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करना आवश्यक नहीं हैं, जबकि मोक्षमार्ग में बाकी के गुणस्थानों से होकर गुजरना अनिवार्य होता है।

इस अनिवार्य संविधान (नियम) में ही उक्त रहस्य (प्रमाद सहित संयम होने) की गुत्थियाँ छिपी हुई हैं, क्योंकि प्रमाद के कारण ही यह जीव सप्तम गुणस्थान से गिरता है, लेकिन इसी गुणस्थान में रहकर वह पुनः सप्तम गुणस्थान में जाने के प्रयत्न में लग जाता है और शीघ्र ही चला भी जाता है। लेकिन फिर कुछ हो जाता है और वह पुनः प्रमाद के कारण छठे गुणस्थान में आ जाता है। इस तरह स्वरूप की असावधानी करना ही 'प्रमाद' कहलाता है। जबकि प्रमाद को चार विकथा, चार कषाय, पाँच

इन्द्रिय-विषय, निद्रा और स्नेह – ऐसे पन्द्रह प्रकार का माना है। इसी कारण मुनिराज की यह अवस्था को छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाली होती है।

आचार्यों ने इस छठे गुणस्थान को चित्रल (विचित्र) आचरणवाला माना है, क्योंकि इस गुणस्थान में कभी तो वे मुनिराज, शुद्धोपयोग में जाने का उद्यम करते हैं, कभी अट्ठाईस मूलगुणों के निरतिचार पालन करने के विकल्प में अपने चित्त को लगाते हैं और कभी इस गुणस्थान में सम्भवित अतिचारों को लगाते हैं; तथापि वे इस छठे गुणस्थान से च्युत नहीं होते। इस तरह इस गुणस्थान में प्रमाद सहित संयम के दर्शन होते हैं। निश्चय से विचार किया जाए तो इस क्षायोपशमिक मिश्र अवस्था में भी जितना कषाय का अभाव है, वह तो वास्तविक चारित्र है और जो देशघाति संज्वलन के उदय से कषायांश विद्यमान है, वह चारित्र नहीं, चारित्र का मल है, उसी के तीव्र उदय के कारण छठे गुणस्थान में स्वरूप की असावधानीरूप प्रमाद या अतिचार आदि दोष होते हैं।

खास बात यह है कि इस गुणस्थान में तीनों प्रकार के सम्यक्त्व में से कोई एक सम्यक्त्व और सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि – इन तीन प्रकार के क्षायोपशमिक-चारित्र में से कोई एक चारित्र अवश्य होता ही होता है। यद्यपि सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र, छठे से नौवें गुणस्थान तक होता है, लेकिन परिहारविशुद्धि चारित्र सिर्फ छठे-सातवें गुणस्थान में ही होता है। एक और विशेष बात यह है कि इस गुणस्थान में ही आहारकादि ऋद्धियों एवं मन:पर्ययज्ञान का उपयोग होता है, आगे नहीं भले ही उनकी उत्पत्ति या प्राप्ति आगे के गुणस्थानों में हुई हो।

इसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त के अनुसार इस गुणस्थान में सर्वघाति तीन कषाय का तो अनुदयरूप अभाव होता है, जो निश्चय-सम्यक्त्व के साथ निश्चय-सम्यक्त्वाचरण और निश्चय-संयमाचरण का जनक है; जबकि देशघाति संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय का सद्भाव रहता है, जो संयम में मल (दोष) उत्पन्न करनेरूप प्रमाद का जनक है। आगे के सातवें से दसवें गुणस्थान तक यह संज्वलन कषाय, क्रमश: मन्द, मन्दतर, मन्दतम और सूक्ष्म होती जाती है और ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में क्रमश: उपशान्त और क्षीण होकर अभावरूप हो जाती है। इस प्रकार हम इस गुणस्थान में चित्रल आचरण की झलक देख सकते हैं।

इस गुणस्थान के काल का विचार करते हुए धवला[42] आदि ग्रन्थों के आधार पर 'पण्डित रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व'[43] नामक ग्रन्थ में पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार ने प्रमत्तसंयत का काल, तीन सेकण्ड से साठ सेकण्ड (एक मिनिट) तक बताया है। जबकि इसी ग्रन्थ में अन्यत्र[44] उन्होंने ही सातवें गुणस्थान का काल, एक सेकण्ड के हजारवें भाग से भी कम माना है। मरण की अपेक्षा इन दोनों गुणस्थानों का ही जघन्य काल एक समय माना गया है। गुरुदेवश्री कानजीस्वामी भी इन्हीं पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार[45] का नाम लेकर, छठे गुणस्थान का काल पौना सेकण्ड और सातवें गुणस्थान का काल उससे आधा कहते थे; इसका उल्लेख पण्डित रतनचन्दजी मुख्तार से प्रश्न करते हुए स्वयं सिद्धान्तशास्त्री पण्डित जवाहरलालजी भीण्डर ने इस ग्रन्थ में किया है।

इस प्रकार छठे गुणस्थान का जघन्य काल एक समय से लेकर एक मिनिट तक उन्हीं के अनुसार मान्य किया गया है, इससे अधिक नहीं। इसी प्रकरण में उन्होंने धवला के आधार पर[46] मुनि-निद्रा का काल भी आठ सेकण्ड से कुछ कम स्वीकार किया है; इसे भी छठे गुणस्थान का काल माना जा सकता है, क्योंकि निद्रा, प्रमाद का एक भेद होने से उसके काल को भी छठे गुणस्थान से जोडना

अनुचित नहीं है।

यह भी नियम है कि यदि कोई जीव, छठे गुणस्थान का काल पूर्ण करके सातवें गुणस्थान में नहीं जाता है तो वह नियम से यथायोग्य परिणामानुसार नीचे के गुणस्थानों में ही गमन करता है।

इस प्रकार सामान्यत: मुनि-जीवन के ये दो ही गुणस्थान हैं, जिनमें मुनि, जीवन-पर्यन्त झूलते रहते हैं। इसे हम दो प्रकार से समझ सकते हैं - 1. द्रव्यानुयोग या अध्यात्म पद्धति की अपेक्षा, 2. चरणानुयोग की अपेक्षा।

1. द्रव्यानुयोग या अध्यात्म पद्धति की अपेक्षा - जब मुनिराज, सामायिक, ध्यान आदि के काल में अप-ने स्वरूप- में जागृत होकर, अप्रमत्तभाव से निर्विकल्प- शुद्धेप-योग में लीन होते हैं; तब यदि स्वरूप की असावधानी करके, उससे प्रमत्त होकर, शुभोपयोग में आते हैं तो वह उनका द्रव्यानुयोग या अध्यात्म अपेक्षा छठा गुणस्थान कहलाता है। यही कारण है कि अध्यात्म ग्रन्थों में स्वरूप की असावधानी को ही प्रमाद कहा है।

2. चरणानुयोग की अपेक्षा - जब मुनिराज, महाव्रत, समिति, आवश्यक आदि क्रियाओं का निरतिचार अप्रमत्तभाव से पालन कर रहे होते हैं, तब यदि उनके पन्द्रह प्रकार के प्रमाद के निमित्त से किसी प्रकार का अतिचार आदि दोष लगता है तो तब उनका चरणानुयोग अपेक्षा छठा गुणस्थान ही कहलाता है। व्रतादि में प्रमाद होने या उनमें अतिचार लगने पर भी उनकी द्रव्यलिंगरूप बाह्य मुनिदशा तो भंग नहीं होती, फिर भी वे उन अतिचारों को योग्य विधि से शुद्ध करते हैं। यही कारण है कि गोम्मटसार में छठे गुणस्थान की चर्चा करते हुए लिखा है -

वत्तावत्तपमादे, जो वसई सो पमत्तविरदो सो।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो।।[47]

अर्थात् जो व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद की अवस्था में भी संयत रहता है अथवा जो संयत होकर भी व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद करता है, फिर भी जो सकल शीलगुणों से युक्त रहता है, वह महाव्रती ही चित्रलाचरणयुक्त कहलाता है।

विशेष यह है कि इस गाथा की व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य लिखते हैं कि **यहाँ जो छठे गुणस्थानवर्ती को महाव्रती या संयमी कहा गया है, वह देशसंयत की अपेक्षा ही कहा है** - ऐसा लिखकर उन्होंने बहुत ही गम्भीर सत्य का उद्घाटन तो किया है अर्थात् ऐसा लिखकर उन्होंने यह भी संकेत किया है कि वास्तव में तो महाव्रतों का निरतिचार-पालन सप्तम गुणस्थान में ही होता है; लेकिन यहाँ चरणानुयोग की मर्यादा का अनुपालन भी पूरी तरह किया गया है।

जिनागम में सामान्य मुनियों के रहने के दो ही गुणस्थान माने गये हैं, अत: उनके लिए शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का बँटवारा भी इन दो गुणस्थानों में हो जाता है, लेकिन चौथे और पाँचवें गुणस्थान में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग में बहुत-बहुत अन्तराल होने से एवं उनकी अवस्थाओं में मुख्यता शुभोपयोग की होने से इन गुणस्थानों को व्यवहार से शुभोपयोग के ही कहा जाता है, लेकिन यहाँ भी आत्मानुभूति या सामायिक आदि के काल में यदि निर्विकल्प अवस्था हो जाती है तो वहाँ भी शुद्धोपयोग होता है - ऐसा मानना उचित ही है। इसके अनेकों प्रमाण शास्त्रों में भी विद्यमान हैं।[48]

7. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान – जब कोई मुमुक्षु साधक, दीक्षा लेने के उपरान्त द्रव्यलिंग तो अंगीकार कर लेते हैं, परन्तु उसके तुरन्त बाद वे यथार्थ भावलिंगस्वरूप शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिए **'नाहं होमि परेसिं, न मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि'**[49] अर्थात् 'इस लोक में न मैं किसी अन्य का हूँ और न कोई अन्य किंचित् मात्र भी मेरा है' – ऐसी भावना भाते हुए वे मुनि भगवन्त, निर्विकल्प सामायिक में स्थित होकर, अपने स्वरूप की साधना करते हैं तो सर्वप्रथम तीन कषाय-चौकडी का अभाव करके, इस सप्तम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को ही प्राप्त करते हैं, क्योंकि यथार्थ मुनिपना, निष्प्रमादी होकर अपने स्वरूप की साधना करने में ही है, उसमें जब वे उत्तीर्ण हो जाते हैं तो कोई-कोई महा-पुरुषार्थी भरत-चक्रवर्ती जैसे महा-मुनिराज, मुनि बनने के एक अन्तर्मुहूर्त में ही क्षपकश्रेणी में आरोहण करके, पूर्ण वीतरागी क्षायिकचारित्रवन्त क्षीणमोही होकर, केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं।

लेकिन अनेक मुनिराज, सप्तम गुणस्थान प्राप्त करके भी स्वरूप की उग्र-साधना नहीं कर पाते तो वे गिरकर, छठे गुणस्थान में आ जाते हैं; तब वे छेदोपस्थापना-चारित्र के अन्तर्गत जीवनपर्यन्त के लिए अट्ठाईस मूलगुणों को स्वयं आचार्य या निर्यापकाचार्य[50] के माध्यम से समझकर स्वीकार करते हैं – ऐसा वर्णन प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका में आता है।

यद्यपि सप्तम गुणस्थान में व्यक्त और अव्यक्त सर्व प्रकार के प्रमाद नष्ट हो जाते हैं; तथापि अभी तीन कषाय-चौकडी का अनुदयरूप ही अभाव हुआ है अर्थात् संज्वलन कषाय का अभी अभाव नहीं हुआ है; हाँ, उसका तीव्र उदय न होकर मन्द उदय वि-द्यमान है, लेकिन वह अबुद्धिपूर्वक या केवलीगम्य ही होता है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक कषाय होने पर शुद्धोपयोग या ध्यान आदि की सम्भावना नहीं बन सकती है।

इस गुणस्थान के दो रूप आगम में वर्णित हैं – स्वस्थान या निरतिशय-अप्रमत्त और सातिशय-अप्रमत्त। जो मुनिराज, छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते रहते हैं, उनके सप्तम गुणस्थान को स्वस्थान या निरतिशय-अप्रमत्त कहते हैं तथा जो मुनिराज, उपशम या क्षपक श्रेणी में आरोहण करने के सन्मुख होते हैं, उनके सप्तम गुणस्थान को सातिशय-अप्रमत्त कहते हैं। यहाँ तीन करण में से अध:प्रवृत्तकरण का प्रारम्भ हो जाता है, इसके बाद ही आठवें गुणस्थान में अपूर्वकरण और नौवें गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण होता है।

अध:करण का स्वरूप जैसे पहले सम्यक्त्व के प्रसंग में कहा गया है, उसी प्रकार जानना चाहिए अर्थात् अध:प्रवृत्तकरण के परिणाम तो पूर्वापर समान-असमान होते हैं। तात्पर्य यह है कि भिन्न समयवर्ती या एकसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी हो सकते हैं। अलग-अलग जीवों की विशुद्धि से ही यह जाना जाता है कि किन्हीं मुनिराज की विशुद्धि, प्रथम समय में ही इतनी अधिक हो जाती है कि किसी अन्य मुनिराज की अनेक समय होने के उपरान्त भी उतनी विशुद्धि नहीं हो पाती। ऐसी परिणामों की विचित्रता, अध:प्रवृत्तकरण के परिणामों में ही होती है, अपूर्वकरण या अनिवृत्तिकरण में कभी नहीं।

यथायोग्य क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी पर आरोहण करने के लिए चार आवश्यक कार्य इसी अध:प्रवृत्तकरण अवस्था में प्रारम्भ होते हैं, जो आगे भी नियम से होते रहते हैं, वे हैं – 1. अनन्तगुनी विशुद्धि, 2. स्थितिबन्धापसरण, 3. अनुभागबन्धापसरण, 4. अनुभागबन्धवृद्धि। इनका विवरण इस प्रकार है –

1. प्रतिसमय **अनन्तगुनी विशुद्धि** होती है।

2. नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है, इसे ही **स्थितिबन्धापसरण** कहते हैं।

3. अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग, प्रतिसमय अनन्तवें भाग होता जाता है, इसे ही **अनुभाग-बन्धापसरण** कहते हैं।

4. प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुना बढते जाता है, इसे ही **अनुभागबन्धवृद्धि** कहते हैं।

यदि किसी जीव ने इस सातिशय-अप्रमत्तदशा के पहले अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना और क्षायिक-सम्यक्त्व न किया हो तो वह क्षपकश्रेणी पर आरोहण नहीं कर सकता, परन्तु उपशमश्रेणी आरोहण के लिए अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना और क्षायिक-सम्यक्त्व करना आवश्यक नहीं है; हाँ, उसके लिए अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना सहित क्षायिक-सम्यक्त्व या द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व होना आवश्यक है।

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना के सम्बन्ध में आचार्यों के दो मत हैं –

1. अनेक आचार्य कहते हैं एवं परम्परा से भी यही माना जाता है कि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना आवश्यक है।[51]

2. अन्य कोई आचार्य कहते हैं कि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना आवश्यक नहीं है।

अत: इस सम्बन्ध में दोनों आचार्यों के प्रति विनय सहित सांमजस्य का अभिप्राय रखना चाहिए, किसी प्रकार का आग्रह करना उचित नहीं है।[52]

इतना विशेष जानना कि पहले स्वस्थान अप्रमत्त अवस्था में ही तीन करणविधान से अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना हो जाती है, फिर प्रमत्त-अप्रमत्त में हजारों बार गमनागमन होता है, फिर उसी स्वस्थान अप्रमत्त अवस्था में ही तीन करणविधान से दर्शनमोह का उपशम होता है, फिर पुन: प्रमत्त-अप्रमत्त में हजारों बार गमनागमन होता है।

इसके बाद ही सातिशय अप्रमत्त अवस्थापूर्वक चारित्रमोह की 21 प्रकृतियों का उपशम-विधान प्रारम्भ होता है; इसमें आठ अधिकार होते हैं – अध:करण (सप्तम गुणस्थान), अपूर्वकरण (अष्टम गुणस्थान), स्थितिबन्धापसरण, देशघातिकरण, अनिवृत्तिकरण (नवम गुणस्थान), अन्तरकरण, क्रमकरण और उपशमकरण। उपशम-करण-विधान में 21 प्रकृतियों का इस क्रम (इस क्रम का अन्यत्र अन्य प्रकार से भी वर्णन मिलता है।) से उपशम होता है – 1 नपुंसकवेद, 2. स्त्रीवेद, 3. छह नोकषाय, 4. पुरुषवेद, 5. तीनों क्रोध, 6. तीनों मान, 7. तीनों माया, 8. तीनों लोभ (अनिवृत्ति बादर लोभ)। इसी उपशम-विधान के कारण औपशमिक-चारित्र के भी धवला में सात प्रकार भी माने गये हैं – 1. नपुंसकवेद के उपशमनकाल में पहला चारित्र, 2. स्त्रीवेद के उपशमनकाल में दूसरा चारित्र, 3. पुरुषवेद एवं शेष छह नोकषायों के उपशमनकाल में तीसरा चारित्र, 4. संज्वलनक्रोध के उपशमनकाल में चौथा चारित्र, 5. संज्वलनमान के उपशमनकाल में पाँचवाँ चारित्र, 6. संज्वलनमाया के उपशमनकाल में छठा चारित्र, 7. बादरसंज्वलनलोभ के उपशमनकाल में सातवाँ चारित्र। (विशेष देखें, धवला 5/190)

इसके बाद सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान का प्रारम्भ होता है। उसमें चरम समय में सूक्ष्म लोभ का उपशम हो जाता है। पश्चात् ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान में प्रवेश होता है। इस प्रकार मोहनीय की उपशमविधि पूर्ण होती है।[53]

यदि किसी ने क्षायिक सम्यक्त्व कर लिया हो तो यह जरूरी नहीं है कि वह क्षपकश्रेणी पर ही आरोहण करे, वह उपशमश्रेणी पर भी आरोहण कर सकता है। खास बात यह है कि उक्त अनन्तानुबन्धी

की विसंयोजना, द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व और क्षायिक-सम्यक्त्व को करने के लिए पृथक्-पृथक् तीन करण करना आवश्यक होता है; उसे करके ही श्रेणी-आरोहण की विधि के अन्तर्गत अध:प्रवृत्तकरण में प्रवेश सम्भव है, अन्यथा नहीं।

ध्यान रहे कि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना और क्षायिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति, सिर्फ अप्रमत्त संयम गुणस्थान में ही नहीं होती, बल्कि चौथे से सातवें गुणस्थान में कहीं भी हो सकती है; लेकिन द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व, सातिशय अप्रमत्त अवस्था एवं उपशमश्रेणी के पूर्व ही होता है। चौथे से निरतिशय अप्रमत्त अवस्था तक होनेवाला उपशम-सम्यक्त्व, प्रथमोपशम-सम्यक्त्व ही कहलाता है; क्योंकि यह मिथ्यात्वपूर्वक ही होता है, जो क्षयोपशम-सम्यक्त्वपूर्वक उपशम-सम्यक्त्व होता है, वह द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व ही होता है।

नियम यह है कि जो मिथ्यात्वपूर्वक उपशम-सम्यक्त्व हो, वह प्रथमोपशम-सम्यक्त्व है और जो क्षयोपशम-सम्यक्त्वपूर्वक उपशम-सम्यक्त्व हो, वह द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व है। वास्तव में प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, लेकिन उनके उद्देश्य की भिन्नता के कारण ही उनके प्रथम या द्वितीय नाम होते हैं। प्रथमोपशम का उद्देश्य, औपशमिक-सम्यक्त्व की प्राप्ति होता है तो द्वितीयोपशम का उद्देश्य औपशमिक-चारित्र की प्राप्ति होता है। ध्यान रहे कि प्रथमोपशम की तुलना में द्वितीयोपशम का काल संख्यातगुना अधिक है, क्योंकि इस द्वितीयोपशम के कायम रहते हुए ही उपशमश्रेणी में चढना और उतरना, दोनों होते हैं।

यहाँ एक **प्रश्न** यह भी उत्पन्न होता है कि क्षयोपशम-सम्यक्त्व में श्रेणी-आरोहण क्यों नहीं हो सकता?

इसका **समाधान** यह है कि क्षयोपशम-सम्यक्त्व, चल-मल-अगाढ दोष से सहित होता है, अत: ऐसी स्थिति में क्षयोपशम-सम्यक्त्वपूर्वक तात्कालिक निर्मल उपशमश्रेणी या तत्पूर्वक होनेवाली उपशान्तमोह अवस्था अथवा सर्वथा विमल क्षपकश्रेणी या तत्पूर्वक होनेवाली क्षीणमोह अवस्था कैसे हो सकती है?

दूसरी बात यह है कि जैसा चारित्र हो, उसके लिए कम से कम वैसा ही सम्यक्त्व होना अनिवार्य होता है। जैसे, क्षायिक-चारित्र, क्षपकश्रेणीपूर्वक होता है, अत: उसके लिए क्षायिक-सम्यक्त्व अनिवार्य है, उससे कम नहीं। लेकिन औपशमिक-चारित्र, उपशमश्रेणीपूर्वक होता है, वह क्षायिक-सम्यक्त्वपूर्वक तो हो ही सकता है, परन्तु उसे करने के लिए कम से कम उपशम-सम्यक्त्व होना तो अनिवार्य ही है; अत: क्षयोपशम-सम्यक्त्व से न तो क्षपकश्रेणी सम्भव है और न उपशमश्रेणी।

खास बात यह है कि इस गुणस्थान में भी छठे गुणस्थान के समान तीनों प्रकार के सम्यक्त्व में से कोई एक सम्यक्त्व तथा सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि – इन तीन प्रकार के क्षायोपशमिक -चारित्र में से कोई एक चारित्र अवश्य होता ही होता है। एक और विशेष बात यह है कि आहारकादि ऋद्धियाँ एवं मन:पर्ययज्ञान का उपयोग तो छठे गुणस्थान में ही होता है, लेकिन उनकी ऋद्धियाँ या क्षयोपशम आदि, इस सातवें आदि गुणस्थानों में भी रह सकता है।

इस गुणस्थान का भाव क्षायोपशमिक होता है, क्योंकि इस गुणस्थान में चारित्रमोह का क्षयोपशम होता है। इस गुणस्थान में प्रयुक्त 'अप्रमत्त' शब्द आदिदीपक के रूप में गृहीत है, क्योंकि इसके आगे के सभी गुणस्थान प्रमाद रहित ही होते हैं। इस गुणस्थान का काल भी छठे गुणस्थान के काल से आधा स्वीकार किया गया है, विशेष विवरण छठे गुणस्थान में दिया गया है, वहाँ से समझ सकते हैं।

इस सातवें गुणस्थान में गमन-आगमन, दोनों सामान्यतः तो छठे गुणस्थान से ही होता है, लेकिन उपशमश्रेणी से उतरते समय आठवें गुणस्थान से भी आ सकते हैं। इनके अलावा पहले, चौथे और पाँचवें से भी इस गुणस्थान में आ सकते हैं। इसी प्रकार इस गुणस्थान से गमन, स्वस्थान-अप्रमत्तवाले का छठे में और सातिशय-अप्रमत्तवाले का आठवें में होता है। हाँ, इस गुणस्थान में यदि मरण हो जाता है तो उस स्थिति में यह जीव, सातवें से सीधे चौथे में भी आ जाता है।

8. अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक गुणस्थान – यद्यपि सातिशय अप्रमत्त दशा में होनेवाले अधःप्रवृत्तकरण के परिणामों से ही यह निश्चित हो जाता है कि इस जीव ने श्रेणी-आरोहण करना प्रारम्भ कर दिया है, क्योंकि अधःप्रवृत्तकरण में जो चार आवश्यक शुरू हुए हैं, वे दसवें गुणस्थान तक जाते हैं; इसी प्रकार चारित्रमोहनीय की 21 प्रकृतियों के उपशम या क्षय में निमित्तभूत वृद्धिंगत शुद्धोपयोगरूप वीतराग परिणाम, यहीं से प्रारम्भ हो जाते हैं; तथापि इस आठवें गुणस्थान को ही श्रेणी-आरोहण का पहला गुणस्थान माना जाता है, क्योंकि आठवें से दसवें तक तीन गुणस्थान श्रेणी-आरोहण के सुनिश्चित गुणस्थान हैं, सातवें गुणस्थान में तो स्वस्थान-अप्रमत्तदशा भी होती है, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व जैसे कार्य कभी होते भी हैं, कभी नहीं भी होते; इस कारण उसे सुनिश्चितपने श्रेणी-आरोहण का गुणस्थान नहीं माना है, आठवें से ही श्रेणी-आरोहण माना है।

श्रेणी दो प्रकार की होती है – उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। जहाँ चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम होता है, वह **उपशमश्रेणी** कहलाती है और जहाँ चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय होता है, वह **क्षपकश्रेणी** कहलाती है। जहाँ उपशमश्रेणी के 8-9-10 गुणस्थानों को पार करके ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान की प्राप्ति होती है, वहीं क्षपकश्रेणीके 8-9-10 गुणस्थानों को पार करके बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान की प्राप्ति होती है। क्षपकश्रेणी में ग्यारहवाँ गुणस्थान नहीं होता और उपशमश्रेणी से बारहवाँ गुणस्थान नहीं होता, बल्कि ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जीव, क्रमशः छठे गुणस्थान में और आगे भी यदि गिरना जारी रखे तो वह पहले गुणस्थान तक आ सकता है।

यद्यपि उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी के 8-9-10 गुणस्थानों में भी परस्पर सूक्ष्मदृष्टि से अन्तर तो है, लेकिन अतिविस्तार से बचने हेतु स्थूलदृष्टि से ही दोनों श्रेणियों के 8-9-10 गुणस्थानों को समान माना गया है अथवा हम ऐसा भी कह सकते हैं कि इन गुणस्थानों में होनेवाले समान कार्यों को ध्यान में रखकर ही इन्हें समान गुणस्थानवर्ती माना गया है।

इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज का पूरा नाम 'अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत' भी है। इस गुणस्थान में प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व परिणाम अर्थात् जो पूर्व में कभी न हुए हों – ऐसे परिणाम होते हैं। संज्वलन कषाय का उदय, यहाँ सातवें गुणस्थान की तुलना में और अधिक मन्द हो जाता है अर्थात् मन्दतर हो जाता है। यद्यपि यहाँ इक्कीस प्रकृतियों में से एक भी प्रकृति का उपशम या क्षय नहीं होता, लेकिन उनके उपशम या क्षय की पूरी तैयारी हो जाती है, उसके लिए अपूर्व पुरुषार्थ भी चल रहा होता है।

(विशेष देखें, धवला 5/204-206)

इस गुणस्थान में एकसमयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम, कभी दूसरे आदि समयवर्तियों के परिणामों से नहीं मिलते। भिन्नसमयवर्ती अनेक जीवों की विशुद्धि, सदाकाल भिन्न ही रहती है, लेकिन एकसमयवर्ती जीवों की विशुद्धि, भिन्न भी हो सकती है और समान भी।

अधःप्रवृत्तकरण के समय जो चार आवश्यक शुरू हुए थे, वे यहाँ भी होते रहते हैं, उनके अलावा

और भी नवीन चार आवश्यक यहाँ होते हैं, जो आगे भी चलते रहते हैं, वे निम्न हैं –

1. सत्ता में स्थित समस्त कर्मों की स्थिति उत्तरोत्तर घटती जाती है, इसे **स्थिति-काण्डक-घात** कहते हैं।

2. सत्ता में स्थित समस्त पापकर्मों का अनुभाग उत्तरोत्तर घटता जाता है, इसे **अनुभाग-काण्डक-घात** कहते हैं, लेकिन इससे पुण्यकर्मों का अनुभाग नहीं घटता।

3. सत्ता में स्थित समस्त पापप्रकृतियाँ, पुण्यप्रकृतिरूप संक्रमित होती हैं, इसे **गुण-संक्रमण** कहते हैं।

4. सत्ता में स्थित समस्त कर्मों की प्रतिसमय असंख्यात गुणाकाररूप में निर्जरा होती है, इसे **गुण-श्रेणी-निर्जरा** कहते हैं।

यद्यपि इस जीव को गुण-श्रेणी-निर्जरा तो पहले से ही चल रही होती है, तथापि यहाँ गुण-श्रेणी-निर्जरा का स्तर दर्शनमोह की क्षपणा करनेवाले से भी अधिक हो जाता है, उसमें भी उपशमश्रेणी की अपेक्षा उपशान्तमोह की गुण-श्रेणी-निर्जरा का स्तर और उपशान्तमोह की अपेक्षा क्षपकश्रेणी की गुण-श्रेणी-निर्जरा का स्तर उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है।[54]

सम्यक्त्व की दृष्टि से बात करें तो जो सम्यक्त्व, सातिशय-अप्रमत्त के समय होता है, वही यथायोग्य आठवें और आगे के गुणस्थानों में भी कायम रहता है। हाँ, उपशमश्रेणीवाला जीव, ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे गिरता ही गिरता है, तो उसकी यथायोग्य परिणामानुसार जैसी स्थिति बनने योग्य होती है, वैसी बनती है। कदाचित् द्वितीयोपशम-सम्यक्त्ववाला जीव, गिरकर दर्शनमोह या मिथ्यात्व का उदय आ जाने से पहले गुणस्थान में भी आ सकता है, क्योंकि उसने दर्शनमोह का उपशम किया है।

चारित्र की दृष्टि से बात करें तो उपशमश्रेणी वालों का औपशमिक-चारित्र और क्षपकश्रेणी वालों का क्षायिक-चारित्र माना जाता है, इसलिए इस गुणस्थानवालों का भी औपशमिक-चारित्र या क्षायिक-चारित्र माना जाता है; लेकिन ऐसा मानना, उपचार से ही सम्भव है, क्योंकि वे जीव, औपशमिक-चारित्र या क्षायिक-चारित्र के सन्मुख हैं–, अभी उन्हें वह प्राप्त नहीं हुआ है। औपशमिक-चारित्र वाले का तो बीच में मरण भी हो सकता है। हाँ, यदि उनका बीच में मरण नहीं हुआ तो नियम से वे उस औपशमिक-चारित्र को प्राप्त करेंगे ही। वास्तव में विचार किया जाए तो 8-9-10 गुणस्थानों में श्रेणी के होते हुए भी वहाँ क्रमश: देशघाति संज्वलन का मन्दतर, मन्दतम और सूक्ष्म-उदय विद्यमान होने से क्षायोपशमिक-चारित्र ही सम्भव है; क्योंकि देशघाति का उदय से क्षयोपशमदशा में हो सकता है, औपशमिक या क्षायिक में नहीं। केवल ग्यारहवें गुणस्थान में ही औपशमिक-चारित्र और केवल बारहवें गुणस्थान या उसके ऊपर ही क्षायिक-चारित्र माना जा सकता है।

ध्यान की अपेक्षा इस गुणस्थान से यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति के उद्देश्य से 'पृथक्त्ववितर्क' नामक प्रथम शुक्लध्यान का प्रारम्भ हो जाता है, जो उपशमश्रेणी पूर्ण करके ग्यारहवें गुणस्थान के औपशमिक यथाख्यात-चारित्र को एवं क्षपकश्रेणी पूर्ण करके बारहवें गुणस्थान के क्षायिक यथाख्यात-चारित्र को प्राप्त कराता है।

काल-अपेक्षा इस गुणस्थान का जघन्य काल एक समय माना जाता है, लेकिन वह सिर्फ उपशमश्रेणी से गिरते समय ही सम्भव होता है, चढते समय तो आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में मरण होता ही नहीं और उस भाग का काल भी मध्यम अन्तर्मुहूर्त है। इसी प्रकार इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल भी

यथायोग्य अन्तर्मुहूर्त ही है। जबकि मध्यम काल, दो समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के असंख्य समय तक अनेक भेद बन सकते हैं। हाँ, यदि किसी जीव का इस गुणस्थान में मरण नहीं होता है तो उसके काल में जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट का भेद नहीं बनता है। क्षपकश्रेणी में मरण का और गिरने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वह जीव, अन्तर्मुहूर्त काल आठवें गुणस्थान में रहकर आगामी यथायोग्य गुणस्थानों को पार करके नियम से अरहन्तपद और सिद्धपद को प्राप्त करता ही है।

आगम में श्रेणियों के उत्कृष्ट काल, अन्तर्मुहूर्त का भी परस्पर अल्प-बहुत्व बताते हुए लिखा है कि सबसे अधिक समय क्षपकश्रेणी चढने में, उससे कुछ कम समय उपशमश्रेणी चढने में और उससे भी कुछ कम समय उससे उतरने में लगता है। यही नियम अलग-अलग 8-9-10 गुणस्थानों के समय के लिए भी लागू हो जाता है। जैसे, आठवें गुणस्थान का काल, क्षपकश्रेणी में सबसे बडा, उससे छोटा उपशमश्रेणी में चढते समय का और उससे छोटा उपशमश्रेणी से उतरते समय का होता है।

इस गुणस्थान में चढते समय सातवें और उतरते समय नौवें; इन दो गुणस्थानों से ही आगमन हो सकता है, जबकि इस गुणस्थान से चढते समय नौवें और उतरते समय सातवें में गमन हो सकता है, और यदि मरण हो जाए तो मरणोपरान्त सीधे चौथे गुणस्थान में गमन होता है।

इस गुणस्थान में जो 'अपूर्व' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे आदि-दीपक के रूप में जानना चाहिए, क्योंकि उसके आगे के सभी परिणाम, अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं।

9. अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक गुणस्थान – निवृत्ति के दो अर्थ हैं – पहला भेद या अन्तर होना और दूसरा भिन्न या दूर होना। यहाँ इस गुणस्थान में दोनों अर्थों का समावेश किया गया है।

गोम्मटसार आदि में पहले अर्थ की मुख्यता रखी गई है, वहाँ कहा गया है कि एकसमयवर्ती अनेक जीवों में नौवें गुणस्थान के उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी के अलग-अलग परिणाम, समानरूप से ही विशुद्ध होते रहते हैं, उनकी वृद्धि-दर भी समान होती है; उनमें किसी प्रकार की निवृत्ति या भेद नहीं होता है तथा भिन्नसमयवर्ती अनेक जीवों की विशुद्धि की वृद्धि-दर सदाकाल भिन्न ही रहती है। देखो! यहाँ अनिवृत्ति का अर्थ श्रेणी सम्बन्धी परिणाम ही समझना चाहिए, अन्य नहीं अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तरायरूप घातिकर्म के निमित्त से होनेवाले क्षायोपशमिक-भावों, दर्शनमोह के उपशम या क्षय के निमित्त से होनेवाले औपशमिक या क्षायिक-भावों और चारों अघातिकर्म के निमित्त से होनेवाले गति, जाति, शरीर आदि सम्बन्धी औदयिक-भावों की अनिवृत्ति या समानता नहीं समझना चाहिए, उनके निमित्त से होनेवाले अन्तर को वहाँ भी स्पष्टतया देखा या समझा जा सकता है।

लेकिन समयसार की आत्मख्याति टीका, षट्खण्डागम की धवला टीका, कषायपाहुड की जयधवला टीका आदि में दूसरे अर्थ का मुख्यतया ग्रहण करके कहा है कि यह गुणस्थान, 'अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय' का है अर्थात् जिस जीव ने अभी तक बादर-कषाय (स्थूल-कषाय) की सम्पूर्ण निवृत्ति या उसका अभाव नहीं किया है। यह गुणस्थान, जीव की बादर-कषाय का अन्तिम गुणस्थान है, इस अपेक्षा 'अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय' को अन्त-दीपक भी कह सकते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज का पूरा नाम 'अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत' है। इस गुणस्थान में तीन कषाय का तो पूर्ववत् अनुदय रहता है, परन्तु संज्वलन व नोकषाय का मन्दतम उदय रहता है; लेकिन इस गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण के विशेष पुरुषार्थ के निमित्त से इक्कीस कषायों की

क्रमश: निवृत्ति अर्थात् उपशम या क्षय होता रहता है। अन्त में बादरलोभ की भी निवृत्ति हो जाती है, सिर्फ सूक्ष्मलोभ का मन्दतम उदय बचता है, जो दसवें गुणस्थान में विद्यमान रहता है।

इस गुणस्थान में सम्यक्त्व, चारित्र, क्षपकश्रेणी और श्रेणियों के समय के परस्पर अल्पबहुत्व की अवस्थाएँ, आठवें गुणस्थान के समान ही जानना चाहिए। काल-अपेक्षा इस गुणस्थान का भी जघन्य काल, एक समय और मध्यम काल, दो समय से लेकर विशिष्ट अन्तर्मुहूर्त के असंख्य समयों से एक समय कम तक अनेक प्रकार का माना है, लेकिन वह सिर्फ उपशमश्रेणी में चढते या गिरते समय, मरण होने पर ही सम्भव माना है। हाँ, यदि इस गुणस्थान में मरण नहीं होता तो उसके काल में जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट का भेद ही नहीं बनता और उसका उत्कृष्ट काल, यथायोग्य अन्तर्मुहूर्त ही बनता है।

इसी प्रकार पूर्व में अध:प्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण के समय जो चार-चार आवश्यक शुरू हुए थे, वे यहाँ भी होते रहते हैं, उनके अलावा और भी आवश्यक यहाँ होते हैं, वे निम्न हैं –

यहाँ इक्कीस प्रकृतियों में से बीस प्रकृतियों का सम्पूर्णत: और इक्कीसवीं लोभ प्रकृति में बादर लोभ का उपशम या क्षय हो जाता है। साथ ही दसवें गुणस्थान में जिस सूक्ष्म लोभ का वेदन होना है, उसके लिए सूक्ष्म-कृष्टि की रचना, यहाँ नौवें गुणस्थान में ही तैयार हो जाती है, उसके लिए पूर्व-स्पर्द्धक का अपूर्व-स्पर्द्धक में, अपूर्व-स्पर्द्धक का बादर-कृष्टि में, बादर-कृष्टि का सूक्ष्म-कृष्टि में परिवर्तन होता जाता है, जिसके द्वारा विवक्षित कर्मों का अनुभाग, अनन्तगुना हीन होता जाता है। हाँ, यहाँ इस गुणस्थान में तो प्रारम्भ से ही अपूर्व-स्पद्धकों का ही अनुभव होता है।

कषाय और नोकषाय, सभी के पूर्व-स्पर्द्धकों और अपूर्व-स्पर्द्धकों में अन्तर इतना है कि पूर्व-स्पर्द्धकों का अनुभाग, पहले कम और बाद में ज्यादा होता है, जबकि अपूर्व-स्पर्द्धकों का अनुभाग, पहले ज्यादा और बाद में कम होता है। इसी प्रकार पूर्व-स्पर्द्धकों में परमाणुओं की संख्या, पहले ज्यादा और बाद में कम होती है, जबकि अपूर्व-स्पर्द्धकों में परमाणुओं की संख्या पहले कम और बाद में ज्यादा होती है।

यहाँ विशेष इतना है कि नौवें गुणस्थान तक सभी कषायें बादर ही हैं। और यहाँ सिर्फ संज्वलन लोभ कषाय में ही बादर और सूक्ष्म – ऐसे दो भेद बनते हैं। इसीलिए नौवें गुणस्थान में पूर्वबद्ध बादर लोभ का उपशम या क्षय हो जाता है, लेकिन नवीन बँधे हुए लोभ की सूक्ष्मकृष्टि हो जाती है, वही सूक्ष्मलोभ, दसवें गुणस्थान के अन्त में नष्ट हो जाता है।

इस गुणस्थान में आगमन, चढते समय आठवें और उतरते समय दसवें; इन दो गुणस्थानों से ही होता है, जबकि इस गुणस्थान से गमन, चढते समय दसवें और उतरते समय आठवें में ही होता है, लेकिन यदि बीच में मरण हो जाए तो उस जीव का सीधे चौथे गुणस्थान में गमन हो जाता है।

10. सूक्ष्मसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत-उपशमक-क्षपक गुणस्थान – यह कषाय की सूक्ष्म वि-द्यमानता का अन्तिम गुणस्थान है, अत: यहाँ 'साम्पराय' शब्द को 'अन्तदीपक' भी कहते हैं। 'साम्पराय' शब्द का अर्थ ही संघर्ष, युद्ध, कषाय, राग, पृच्छा, गवेषणा आदिरूप होता है अर्थात् यहाँ सांसारिक संघर्ष या राग या कषाय की अन्तिम लडाई होती है, क्योंकि इसके बाद संघर्ष-विराम होने वाला है; इसके बाद कषाय का या तो सम्पूर्णत: उपशम हो जाएगा या क्षय हो जाएगा; इस अपेक्षा इस गुणस्थान की अपनी यह विशिष्ट सामर्थ्य है, क्योंकि इसके माध्यम से ही चारित्रमोह का साक्षात् उपशम या क्षय होता है, ऐसी सामर्थ्य, तीन करण-परिणामवाले सातिशय-अप्रमत्तरूप अध:करण या

अपूर्वकरण या अनिवृत्तिकरण में भी नहीं होती।

यहाँ एक **प्रश्न** हो सकता है कि कौन बलवान है? – दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी-कषाय या यह अन्तिम सूक्ष्म-लोभ?

इसका **समाधान** यह है कि अलग-अलग अपेक्षाओं से दोनों का बलवानपना सिद्ध होता है। जो अन्त तक जीवित रहे, बडे बडे करण-परिणामों के प्रहारों से भी जो नष्ट न हो, जिसके नष्ट हुए बिना पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता न हो सके, वही बलवान माना जाएगा – इस अपेक्षा से सूक्ष्मलोभ को बलवान माना जाए तो कोई दोष नहीं है; इसी प्रकार आगे-आगे के गुणस्थान एक से बढकर एक हैं, अत: उनकी प्राप्ति करानेवाले पुरुषार्थ को महान मानना ही चाहिए, क्या सम्यक्त्व-प्राप्ति की तुलना में भी श्रेणी-आरोहण के पुरुषार्थ को हीन माना जा सकता है? जिस कार्य को चारों गति के जीव कर सकते हैं या जिस कार्य को सामान्य सद्‌गृहस्थ या आठ वर्ष का बालक भी कर सकता है, वह कैसे महान हो सकता है? जिसे सिर्फ मनुष्यगति में मुनि-अवस्था में ही किया जा सकता है, बल्कि सूक्ष्मलोभ का नाश तो पंचमकाल का मुनि भी नहीं कर सकता, अत: वही कार्य महान है।

यहाँ फिर एक विचारणीय तथ्य यह हो सकता है कि जिस सूक्ष्मलोभ में स्वयं मोहनीयकर्म को भी बाँधने की सामर्थ्य का अभाव है, ज्ञानावरणादि कर्मों को भी जो बहुत हीन स्थिति-अनुभाग के साथ ही बाँधता है, उसके लिए यह भी तो कहा जा सकता है कि उस सूक्ष्मलोभ में ही इतनी कम सामर्थ्य है कि उसे नष्ट करने का पुरुषार्थ भी नहीं करना पडता, वह तो स्वयमेव सहज ही नष्ट हो जाता है।

जैसे, हम घर में बडा बडा कचरा साफ करने के लिए तो बार बार झाडू लगाते हैं, लेकिन जब पानी का पोछा लगाते हैं तो उससे होनेवाली नमी को दूर करने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करते, कोई झाडू नहीं लगाते; उसे तो वैसे ही थोडी देर के लिए छोड देते हैं, वह नमी सूख जाती है और हमारा घर स्वच्छ-साफ हो जाता है, चमकने लगता है; उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध-स्वच्छ करने के लिए पहले दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि विभावों को नष्ट करने के लिए तो तीन करणरूप पुरुषार्थ करते हैं, लेकिन सूक्ष्मलोभ को नष्ट करना भी तो आवश्यक है, परन्तु उसे नष्ट करने के लिए हमें कुछ भी नहीं करना पडता है; बस! अत्यल्प काल के लिए आत्मा को निर्विकल्प होकर, अपने शुद्ध स्वच्छ प्रकाशस्वरूप की आराधना मात्र करना होता है, उस सूक्ष्मलोभ का भी ज्ञाता-दृष्टा हो जाना होता है, वह तो अपने आप नष्ट हो जाता है, आत्मा पूर्ण वीतराग या यथाख्यात-चारित्रवन्त हो जाता है। इस अपेक्षा सूक्ष्मलोभ को बलवान कैसे माना जा सकता है?

कितने आश्चर्य की बात है कि इस गुणस्थान में रहनेवाले चारित्र की भी संज्ञा 'सूक्ष्म-साम्पराय' है, जिसे नष्ट करना है, उसे ही चारित्र कहा जा रहा है अथवा जिसे नष्ट करना है, उसी चारित्र से उसे नष्ट किया जा रहा है। यही इस गुणस्थान की विशेषता है। इस 'सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र' की वीतरागता, यथाख्यात-चारित्र से किंचित् मात्र ही कम होती है, क्योंकि यह चारित्र, कुल पच्चीस कषायों में से 24.999 प्रतिशत कषाय के अभाव से उत्पन्न हो रहा है, मात्र सूक्ष्मलोभरूप राग ही तो विद्यमान है, उसे मात्र 0.001 प्रतिशत कहने में भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इसी कारण इस गुणस्थानवर्ती मुनिराज को 'सूक्ष्म-साम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि-संयत' कहा जा रहा है।

एक विशेष बात यह है कि एकमात्र इसी गुणस्थान में राग या लोभ का सूक्ष्म-परिणमन या सूक्ष्म-

कृष्टि मानी गई है, अन्यत्र नौवें गुणस्थान तक राग या कषाय का बादर अर्थात् स्थूल परिणमन ही माना जाता है। इस गुणस्थान के सूक्ष्मराग को समझाने के लिए आचार्यों ने 'धुले हुए स्वर्णिम आभावाले सफेद वस्त्र की सूक्ष्म लालिमा' का उदाहरण दिया है। अहो! कितना सम्मानजनक यह सम्बोधन है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व को भी बलवान मानने या न मानने के सम्बन्ध में भी अपेक्षा-भेद से विचार किया जा सकता है, क्योंकि जिसका नाश मोक्षमार्ग में सबसे पहले हो जाए या एक बार के क्षणिक स्वरूपानुभव से ही जो नष्ट हो जाए, उसे बलवान कैसे माना जाए? लेकिन यदि इसी बात को हम ऐसा कहें कि जिस मिथ्यात्व को नष्ट किये बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता, जिसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते, जिसके होने पर सबसे अधिक कर्मबन्ध की स्थिति-अनुभाग पडते हों, ऐसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी-कषाय को ही सबसे अधिक बलवान माना जाना उपयुक्त है।

इस प्रकार दोनों प्रकार की अपेक्षाओं के रहस्य को समझ कर, वस्तुस्वरूप का सुयोग्य चिन्तन-मन्थन करना चाहिए, एकान्त करना, कदापि श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता है।

इस गुणस्थान में सम्यक्त्व, चारित्र, काल, क्षपकश्रेणी और श्रेणियों के समय के परस्पर अल्प-बहुत्व की अवस्था, आठवें-नौवें गुणस्थान के समान ही जानना चाहिए। इसी प्रकार पूर्व में अध:प्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण के समय जो चार-चार आवश्यक शुरू हुए थे, वे यहाँ भी होते रहते हैं, उनके अलावा अनिवृत्तिकरण में संज्वलन लोभ की जो सूक्ष्मकृष्टि की गई थी, उसका यहाँ वेदन होता है। इस गुणस्थान में सिर्फ मोहनीय और आयु, इन दो को छोडकर छह प्रकृतियों का ही बन्ध ही होता है। जबकि उदय एवं सत्ता आठों कर्मों की होती है।

श्रेणी में इस गुणस्थान का काल सबसे छोटा होता है। यदि हम श्रेणी के सभी गुणस्थानों के काल के अल्प-बहुत्व पर विचार करें तो सबसे छोटा अन्तर्मुहूर्त दसवें गुणस्थान का ही होता है, उससे उत्तरोत्तर क्रमश: बडे अन्तर्मुहूर्त ग्यारहवें, बारहवें, नौवें, आठवें गुणस्थान के होते हैं।

इस गुणस्थान में चढते समय दोनों श्रेणियों में नौवें गुणस्थान से आगमन होता है, जबकि उतरते समय मात्र उपशमश्रेणी में ही ग्यारहवें गुणस्थान से आगमन होता है, जबकि इस गुणस्थान से गमन, चढते समय उपशमश्रेणी में ग्यारहवें और उतरते समय नौवें गुणस्थान में होता है, लेकिन यदि उपशमश्रेणी में चढते या उतरते हुए बीच में मरण हो जाए तो उस जीव का मरणोपरान्त सीधे चौथे गुणस्थान में गमन हो जाता है। जबकि क्षपकश्रेणी में मात्र बारहवें गुणस्थान में ही गमन होता है।

11. उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान – सभी चौदह गुणस्थानों में यह ग्यारहवाँ गुणस्थान ही सबसे अधिक अभागा या अमंगलकारक माना जाता है, इस गुणस्थान के नाम पर एक महाकलंक लगा हुआ है कि एक तरफ तो यह परम पवित्र औपशमिक-चारित्र के सर्वोत्कृष्ट-स्वरूप पूर्ण वीतराग यथाख्यात-चारित्र का गुणस्थान है, दूसरी तरफ इस गुणस्थान के जीव, अवश्यंभावी तौर पर गिरते ही गिरते हैं।

इस गुणस्थान से नीचे गिरने की कोई मर्यादा भी नहीं है, बल्कि क्रमश: दसवें-नौवें-आठवें-सातवें गुणस्थान में होते हुए कोई जीव, छठे गुणस्थान पर आकर रुक जाता है, तो कोई उससे भी नीचे गिरकर पाँचवें पर रुक जाता है, तो कोई उससे भी नीचे गिरकर चौथे पर रुक जाता है, तो कोई उससे भी नीचे गिरकर तीसरे पर आकर पहले में आता है, तो कोई चौथे से नीचे गिरकर दूसरे में होते हुए[55] सीधे पहले गुणस्थान में आ जाता है तो कोई चौथे से सीधे नीचे गिरकर पहले में आ जाता है। इतना ही नहीं, ऐसा जीव, मिथ्यात्व में आने के बाद नरक-निगोदादि अवस्थाओं को भी प्राप्त हो सकता है।

अहो! आश्चर्य!! महा आश्चर्य!!!

इस प्रकार इस गुणस्थान से गिरकर, जीव की खतरनाक अवस्थाएँ भी हो जाती हैं। यही इस गुणस्थान की विलक्षणता है अथवा उसका दुर्भाग्य है। हाँ, लेकिन कोई भी जीव इस गुणस्थान से सीधे पहले, आदि गुणस्थानों में गमन नहीं करता है, छठे गुणस्थान तक तो क्रम से ही आ सकता है। यदि किसी जीव का ग्यारहवें या अन्यत्र श्रेणी के बीच में मरण हो जाता है तो वह मरणोपरान्त चौथे में ही आता है।

इस गुणस्थान में आठों कर्मों की सत्ता विद्यमान होने पर भी मोहनीयकर्म के उदय के अभावरूप औपशमिकभाव होने से वर्तमान में महासुखी भी है, क्योंकि मोह ही दुःख का मूल कारण है। इस गुणस्थान का नाम उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय अथवा विस्तृत नाम 'उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ' है। इस गुणस्थान के भाव को समझाने हेतु आचार्यों ने 'निर्मली फल से सहित स्वच्छ जल' एवं 'शरदकालीन सरोवर के जल' का उदाहरण दिया है। यह औपशमिकभाव का अन्तिम गुणस्थान है, क्योंकि औपशमिक-भाव दो प्रकार का होता है – औपशमिक-सम्यक्त्व के चौथे से ग्यारहवाँ तक गुणस्थान है और औपशमिक-चारित्र के आठवें से ग्यारहवाँ तक गुणस्थान हैं। इस गुणस्थान के साथ 'वीतराग' शब्द आदि-दीपक है। इसके पहले जो 'वीतराग' सम्बोधन दिया जाता है, वह केवल औपचारिकता मात्र होती है।

ध्यान रहे कि औपशमिक-चारित्र के साथ सम्यक्त्व का भी औपशमिक (द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व) या क्षायिक होना अनिवार्य है, क्योंकि क्षयोपशम-सम्यक्त्व के साथ औपशमिक-चारित्र हो ही नहीं सकता। इस गुणस्थान में चारित्र की प्रधानता होने से इस गुणस्थान का भाव भी औपशमिक ही माना है, भले ही वह जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही क्यों न हो?

इस गुणस्थान में सम्यक्त्व, चारित्र, काल और श्रेणियों के समय के परस्पर अल्प-बहुत्व की व्यवस्था, आठवें-नौवें गुणस्थान के समान ही जानना चाहिए। इस गुणस्थान में सिर्फ सातावेदनीय प्रकृति का ईर्यापथ आस्रव एवं एक समय मात्र का बन्ध होता है, साम्परायिक आस्रव होता ही नहीं, जबकि मोहनीय को छोडकर सात प्रकृतियों का उदय रहता है एवं सत्ता, आठों कर्मों की होती है।

इस गुणस्थान में आगमन, सिर्फ चढते समय उपशमश्रेणी में दसवें गुणस्थान से ही होता है, जबकि इस गुणस्थान से गमन, कालक्षय के निमित्त से उपशमश्रेणी से उतरते समय दसवें में होता है, लेकिन यदि बीच में मरण हो जाए तो भवक्षय के निमित्त से सीधे चौथे गुणस्थान में गमन हो जाता है। इस प्रकार इस गुणस्थान से गमन, दो कारणों से होता है – कालक्षय और भवक्षय।

इस गुणस्थान का काल, दो क्षुद्रभवों के बराबर निश्चित माना गया है, इस क्षुद्रभव का काल एक श्वास के अठारहवें भाग होता है और एक श्वास का काल पौन सेकण्ड के बराबर होता है अर्थात् एक सेकण्ड में चौबीस और एक श्वास में अठारह क्षुद्रभव होते हैं। क्षुद्रभव से तात्पर्य ही यह है कि आयु की अपेक्षा यह सबसे छोटा भव होता है। छहढाला में इसी क्षुद्रभव की चर्चा करते हुए कहा भी है – 'एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यौ मर्‍यौ भर्‍यौ दुःख-भार।'[56]

12. क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान – यह गुणस्थान, क्षपकश्रेणी का अन्तिम गुणस्थान है, अथवा हम कह सकते हैं कि इस गुणस्थान में क्षपकश्रेणी का फल प्राप्त होकर, मोहनीयकर्म का सर्वथा अभाव हो जाने से पूर्ण 'क्षायिकसुख' प्राप्त हो जाता है, क्योंकि इस संसारी जीव को मोह के

कारण ही दुःख होता है। मोहनीयकर्म के निमित्त से होनेवाले इस मोह के दो भेद हैं – दर्शनमोह और चारित्रमोह, दोनों का अभाव हुए बिना क्षायिकसुख की प्राप्ति असम्भव है।

दर्शनमोह का अभाव होने पर, जिस अतीन्द्रिय सुख का अंश प्रगट होता है, वही अतीन्द्रिय सुख, चारित्रमोह का अभाव होने पर, पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। दर्शनमोह, जहाँ अतीन्द्रिय सुख के मार्ग में इष्टानिष्ट-बुद्धि, एकत्व-बुद्धि, ममत्व-बुद्धि, कर्तृत्व-बुद्धि, भोक्तृत्व-बुद्धि, ज्ञातृत्व-बुद्धि आदि उत्पन्न कराके पहाड जैसी बाधाएँ खडी कर देता है, वहीं चारित्रमोह का अभाव होने पर अतीन्द्रिय सुख के मार्ग की आंशिक राग, द्वेष, कषाय आदि सुई बराबर बाधाएँ भी नष्ट हो जाती हैं।

सुख-शक्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं कि **'अनाकुलत्व-लक्षणा सुख-शक्तिः'**[57] अर्थात् आत्मा में अनाकुलता लक्षणवाली सुख-शक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि आकुलता दो कारणों से होती है – श्रद्धा की विपरीतता (दर्शनमोह) और चारित्र की कमजोरी (चारित्रमोह) – इन दोनों का अभाव होने पर ही क्षायिकसुख प्रगट हो जाता है, इस कारण श्रद्धा और चारित्र की संयुक्त अवस्था का नाम ही सुख है – ऐसा हम कह सकते हैं, यही कारण है कि आत्मा की 47 शक्तियों में न 'श्रद्धा' नाम की कोई शक्ति है और न 'चारित्र' नाम की अर्थात् यह सुखशक्ति ही है, जिसमें दोनों को मिलाकर एक 'सुख' का नाम दिया गया है।

यद्यपि ज्ञानावरणादि घातिकर्मों के निमित्त से ज्ञानादि में अपूर्णता होने से अनन्तज्ञानी अरहन्त भगवान में प्रगट होनेवाला 'अनन्तसुख', उन क्षीणमोह गुणस्थानवालों को प्रगट नहीं होने से उनके क्षायिकसुख में अभी अनन्तता नहीं है, इसी प्रकार वेदनीयकर्म के अभाव के निमित्त से सिद्धों में प्रगट होनेवाला 'अव्याबाधसुख' नामक गुण भी उनके नहीं होने से बारहवें गुणस्थानवालों के क्षायिकसुख में वह अव्याबाधत्व भी नहीं है; तथापि मोहनीयकर्म का सर्वथा अभाव होने से असली अतीन्द्रिय अनाकुल क्षायिकसुख तो उनके है ही, लेकिन यही 'क्षायिकसुख' की अवस्था, चार क्षुद्रभव के बराबर अन्तर्मुहूर्त के बाद समस्त घातिकर्म का अभाव करके, अनन्त चतुष्टयात्मक अनन्तसुख का साक्षात् कारण बनता है एवं आयु के अन्त में अघातिकर्म के अभाव से 'अव्याबाधसुख' का भी परम्परा कारण बनता है।

वास्तव में सुख का असली कारण तो मोह का अभाव ही है, उसमें घातिकर्मों के अभाव से आनेवाले 'अनन्तत्व' और वेदनीयकर्म के अभाव से आनेवाले 'अव्याबाधत्व' से उसका सौन्दर्य बढता अवश्य है, उसका महिमा-मण्डन भी होता है, लेकिन उनसे कोई सुख नहीं बढता।

यदि गम्भीरता से विचार करें तो अरहन्त-सिद्ध भगवान को प्राप्त होनेवाले 'अनन्तसुख' का भी असली कारण मोहनीय का अभाव ही है। इस अपेक्षा क्षायिकसुख और अनन्तसुख में कोई अन्तर नहीं है, नाम मात्र का ही अन्तर है; ज्ञान की हीनता-अधिकता से सुख-दुःख मानना भी उपचार मात्र है।

इसी प्रकार वेदनीयकर्म के निमित्त से सुख-दुःख नहीं, बल्कि बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता ही प्राप्त होती है, लेकिन उससे वास्तविक सुख-दुःख का क्या लेना-देना? अनुकूलता-प्रतिकूलता को तो उपचार से ही सुख-दुःख अथवा सुख-दुःख का कारण कहा जाता है।

इस गुणस्थान में अत्यन्त निर्मल पूर्ण वीतरागता होने के बाद सर्वज्ञता प्रगट करने के लिए 'एकत्व-वितर्क' नामक द्वितीय शुक्लध्यानरूप शुद्धोपयोग होता है। इस ध्यान के निमित्त से उनके शरीर में निगोदिया जीवों की उत्पत्ति नहीं होती और इस गुणस्थान के अन्त में उनका सम्पूर्ण शरीर निगोदिया जीवों से रहित हो जाता है, और इस गुणस्थान के अनन्तर समय में ही अरहन्त अवस्था प्राप्त होकर

उन महात्माओं का शरीर परमौदारिक हो जाता है।

आचार्यों ने इस गुणस्थान के लिए 'स्फटिकमणि के पात्र में रखे हुए निर्मल जल' का उदाहरण दिया है अर्थात् पात्र भी स्वच्छ और पात्र में रखी हुई वस्तु भी निर्मल, जिसमें मलिनता प्रविष्ट होने की सम्भावना भी न रहे। आगम में इस गुणस्थान का पूरा नाम 'क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ' दिया गया है। जो कार्य, क्षायिक-यथाख्यात-चारित्र के उद्देश्य से आठवें गुणस्थान में 'क्षपकश्रेणी एवं पृथक्त्व-वितर्क' नामक प्रथम शुक्लध्यानरूप शुद्धोपयोग के माध्यम से प्रारम्भ हुआ था, वह कार्य यहाँ सम्पूर्णरूप से सफल हो जाता है। यही कारण है कि न केवल चारित्र की अपेक्षा, बल्कि सम्यक्त्व अपेक्षा भी इस गुणस्थान का भाव भी 'क्षायिक' हो जाता है। फिर भी केवलज्ञान के अभाव के कारण इस गुणस्थानवाले जीव, अभी श्रुतकेवली होने से उत्तम अन्तरात्मा ही हैं, परमात्मा नहीं।

सम्यक्त्व-अपेक्षा इस गुणस्थान में क्षायिक-सम्यक्त्व ही सम्भव है, क्योंकि क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिक-यथाख्यात-चारित्र, दोनों मिलकर ही क्षीणमोहपने को प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस गुणस्थान में चारित्र की मुख्यता है, तथापि अकेले क्षायिक-चारित्र का नाम क्षीणमोह नहीं है, क्योंकि क्षीणमोह में दर्शनमोह और चारित्रमोह, दोनों प्रकार के मोह का क्षीण होना अन्तर्गर्भित है।

इस कारण इस जीव को प्रथम समय से ही बन्ध तो है ही नहीं, समय मात्र काल-प्रमाणवाला योग-निमित्तक ईर्यापथ-आस्रव होता है, उसका समय मात्र का बन्ध-उदय भी होता है, वह भी मात्र सातावेदनीय का ही होता है, लेकिन उसे 'बन्ध' संज्ञा प्राप्त नहीं है, उसे ईर्यापथ-आस्रव के अन्तर्गत ही मान लिया जाता है, क्योंकि दो समय या उससे अधिक समय-प्रमाणवाले बन्ध-उदय को ही बन्ध-उदय माना गया है। इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म रहित सात कर्मों का ही सत्त्व एवं उदय होता है। इस गुणस्थान के अनन्तर समय में तो अरहन्त अवस्था सहित तेरहवाँ गुंणस्थान हो जाने पर केवल चार अघातिकर्मों का ही सत्त्व और उदय रहता है।

काल-अपेक्षा इस गुणस्थान में जघन्य-उत्कृष्ट का भेद नहीं है, क्योंकि सर्व जीव, इस गुणस्थान में समान चार क्षुद्रभव के बराबर अन्तर्मुहूर्त काल ही रहते हैं। श्रेणी के गुणस्थानों का परस्पर अल्प-बहुत्व पहले ही बताया जा चुका है। विशेष यह है कि श्रेणी के अलग-अलग गुणस्थानों का काल भी यथायोग्य अन्तर्मुहूर्त है और सबका मिलकर भी यथायोग्य अन्तर्मुहूर्त है। बारहवें गुणस्थान में जीव नियम से दसवें गुणस्थान से ही आता है और नियम से तेरहवें गुणस्थान में ही जाता है। इस गुणस्थान का क्षीणमोहपना, यह आगामी गुणस्थानों एवं सिद्ध भगवान में भी विद्यमान होने से आदि-दीपक है।

13. सयोग-केवली-जिन गुणस्थान – यह गुणस्थान, स्वयम्भू स्वसहाय परमात्मदशा का प्रथम गुणस्थान है। इस गुणस्थान में चार घातिकर्म के अभाव से अनन्त-चतुष्टयात्मक केवलज्ञानादि नौ केवल-लब्धियाँ या क्षायिक-लब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं; इन नौ लब्धियों के नाम हैं – 1. केवलदर्शन या क्षायिकदर्शन या अनन्तदर्शन, 2. केवलज्ञान या क्षायिकज्ञान या अनन्तज्ञान 3. क्षायिक-सम्यक्त्व, 4. क्षायिक-यथाख्यात-चारित्र, 5. क्षायिकदान, 6. क्षायिकलाभ, 7. क्षायिकभोग, 8. क्षायिकउपभोग, 9. क्षायिकवीर्य। जिनागम में इसी परमात्म-दशा के जिन, जिनवर, जिनवर-वृषभ, जिनेन्द्र, आप्त, अरहन्त, अरिहन्त, अरुहन्त, सयोग-केवली, जीवन-मुक्त, परम-ज्योति आदि अनेक नाम प्राप्त होते हैं।

यद्यपि इस दशा में योग की विकृति अभी भी विद्यमान है और तत्कृत ईर्यापथ-आस्रव भी; तथापि

अरहन्त परमात्मा के रागात्मक-विकृतियों के साथ-साथ ज्ञानात्मक-विकृतियों का भी सर्वथा अभाव होकर, पूर्ण वीतराग परम यथाख्यात-चारित्र एवं सर्वज्ञपना भी प्रगट हो जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के कारण अरहन्त परमात्मा का परमौदारिक शरीर, पृथिवी से पाँच हजार धनुष ऊपर चला जाता है। इसी गुणस्थान में तीर्थंकरादि महान प्रकृतियों का उदय होकर, परम-हितोपदेशिता के लक्ष्य से समवसरणादि विभूतियों के अन्तर्गत धर्मतीर्थ के कर्ता के द्वारा दिव्यध्वनि का प्रसारण होता है।

यद्यपि इस गुणस्थान के लिए तीर्थंकर होना अनिवार्य नहीं है; तीर्थंकरों के अलावा अन्य सामान्य केवली या अरहन्त भगवान भी इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। केवलियों के तीर्थंकर-केवली, सामान्य-केवली, सातिशय-केवली, मूक-केवली, उपसर्ग-केवली, अन्तकृत्-केवली, समुद्घात-केवली, पंच-कल्याणक-केवली, त्रि-कल्याणक-केवली, द्वि-कल्याणक-केवली, तद्भवस्थ-केवली, सिद्ध-केवली आदि अनेक प्रकार सम्भव हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

- जो तीर्थंकर होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे **तीर्थंकर-केवली** कहलाते हैं।
- जो पूर्व मनुष्यभव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके, स्वर्ग जाकर, फिर मनुष्य भव में जन्म लेते हैं, उनके गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवलज्ञान-मोक्ष, ये पाँचों कल्याणक होते हैं, वे **पंचकल्याणक-तीर्थंकर-केवली** कहलाते हैं, ये सर्वत्र अर्थात् पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह में सर्वत्र हो सकते हैं।
- जो उसी भव में, दीक्षा के पूर्व श्रावक अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति बाँधते हैं, उनके दीक्षा-केवलज्ञान-मोक्ष, ये तीन कल्याणक ही होते हैं, वे **त्रिकल्याणक-तीर्थंकर-केवली** कहलाते हैं, ये पाँच विदेह में ही होते हैं।
- जो उसी भव में, दीक्षा लेने के बाद मुनि अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति बाँधते हैं, उनके केवलज्ञान-मोक्ष, ये दो कल्याणक ही होते हैं, वे **द्विकल्याणक-तीर्थंकर-केवली** कहलाते हैं; ये भी पाँच विदेह में ही होते हैं;

  ध्यान रहे कि भरत-ऐरावतक्षेत्र में नियम से पाँच कल्याणकवाले ही तीर्थंकर होते हैं, जबकि विदेहक्षेत्र में तीनों प्रकार के अर्थात् पाँच, तीन और दो कल्याणकवाले तीर्थंकर हो सकते हैं; इनमें भी विशेष यह है कि पाँच विदेहक्षेत्र के 32-32 नगरों में होनेवाले कुल 160 तीर्थंकरों में भी जो प्रमुख 4-4 नगरों के निरन्तर विद्यमान रहनेवाले 20 तीर्थंकर होते हैं, वे पंचकल्याणकवाले ही होते हैं।
- जो तीर्थंकरों के अलावा केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सभी **सामान्य-केवली** कहलाते हैं।
- जो तीर्थंकरों के अलावा केवलज्ञान प्राप्त करके गन्धकुटी के माध्यम से उपदेश देते हैं, वे **सातिशय-केवली** कहलाते हैं।
- जो केवलज्ञान होने के बाद भी मौन रहते हैं, उपदेश नहीं देते, वे **मूक-केवली** कहलाते हैं।
- जिन पर क्षपकश्रेणी आरोहण से पहले उपसर्ग प्रारम्भ होता है, क्योंकि उसके बाद उन्हें केवलज्ञान अवश्य होता है, अत: वे **उपसर्ग-केवली** कहलाते हैं।
- जो केवलज्ञान प्राप्त करने के तुरन्त अन्तर्मुहूर्त बाद ही मोक्ष चले जाते हैं, वे **अन्तकृत्-केवली** कहलाते हैं।

* जिनके केवलज्ञान हो जाने के बाद अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु शेष रहने पर यदि आयुकर्म की स्थिति कम होती है और अन्य अघातिकर्मों की स्थिति अधिक होती है तो वे उन अधिक स्थितियों को आयु-प्रमाण करने के लिए 'केवली-समुद्घात' के माध्यम से चार समयों में क्रमशः आत्म-प्रदेशों को दण्ड-कपाट-प्रतर-लोकपूरण समुद्घातरूप करके, वापस चार समयों में आत्म-प्रदेशों को प्रतर-कपाट-दण्ड-स्वशरीर के बराबर करके, सभी कर्मों की स्थितियों को आयु-प्रमाण करते हैं, वे **समुद्घात-केवली** कहलाते हैं।

  आचार्यों[58] ने केवली समुद्घात करने का कारण बताते हुए लिखा है कि जिस प्रकार गीला वस्त्र फैलाने से वह जल्दी सूख जाता है, परन्तु वेष्टित वस्त्र जल्दी नहीं सूखता; उसी प्रकार बहुत काल में होने योग्य स्थिति-अनुभागघात, केवली-समुद्घात द्वारा शीघ्र हो जाते हैं।

  उक्त केवलियों के अलावा और भी अनेक प्रकार केवली हो सकते हैं। जैसे, कषायपाहुड[59] में दो प्रकार के केवलियों का कथन आता है – तद्भवस्थ-केवली और सिद्ध-केवली।

* जिस भव में केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उसी भव में जितने काल तक वह जीव केवली बनकर रहता है अर्थात् जो वह जीव, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में रहकर जितने काल तक संसार (भव) में रहता है, उन्हें **तद्भवस्थ-केवली** कहते हैं।

* मुक्त होने के बाद जो वह जीव, सिद्ध अवस्था में केवलज्ञानसहित रहता है, उन्हें **सिद्ध-केवली** कहते हैं।

तीर्थंकर-अरहन्त-केवली के 46 मूलगुण होते हैं – उनमें 4 आत्माश्रित गुण, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य के रूप में प्रगट होते हैं, इन्हें अनन्त-चतुष्टय भी कहते हैं, ये सिद्धदशा होने पर भी कायम रहते हैं। इनके अलावा 42 पराश्रित अथवा वर्तमान असमाजातीय-मनुष्य-पर्यायाश्रित गुण होते हैं; जो अरहन्त-पर्याय के साथ ही समाप्त भी हो जाते हैं, जिनमें 34 अतिशय और 8 प्रातिहार्य होते हैं। 34 अतिशयों में 10 जन्म के अतिशय, 10 केवलज्ञान के अतिशय और चौदह देवकृत अतिशय होते हैं।

8 प्रातिहार्यों के नाम हैं – 1. अशोकवृक्ष, 2. सिंहासन, 3. तीन छत्र, 4. भामण्डल, 5. दिव्यध्वनि, 6. पुष्पवृष्टि, 7. चौंसठ चँवर 8. दुन्दुभि वाद्य।[60]

इस गुणस्थानवाले जीव को परमात्मा या प्रभु भी कहते हैं, क्योंकि वे वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी होते हैं; इसलिए वे देव भी हैं और परमगुरु भी हैं, क्योंकि वे मोक्षमार्गी हैं; इसलिए वे गुरु भी हैं।

इस गुणस्थानवाले केवली परमात्मा 18 दोषों से रहित होते हैं, उनके नाम हैं – 1. जन्म, 2. जरा, 3. तृषा, 4. क्षुधा, 5. विस्मय, 6. आर्त, 7. खेद, 8. रोग, 9. शोक, 10. मद, 11. मोह, 12. भय, 13. निद्रा, 14. चिन्ता, 15. स्वेद, 16. राग, 17. द्वेष, 18. मरण।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि अरहन्त भगवान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अवर्णवाद (मिथ्या-प्रलाप) किये जाते हैं, परन्तु इनमें सत्यता तो नहीं, सत्यांश भी नहीं है। जैसे, केवली परमात्मा को कवलाहार कभी नहीं होता; हाँ, नोकर्माहार होता रहता है अर्थात् अरहन्त परमात्मा के परमौदारिक शरीर से सम्बद्ध रहनेवाले अनेक परमाणु समय पाकर, शरीर छोडकर चले जाते हैं और नये परमाणु आकर, उनके शरीर से जुड जाते हैं, इसे ही नोकर्माहार कहते हैं, लेकिन इसे कवलाहार से जोडना सर्वथा अयुक्त है, बल्कि विपरीत मिथ्यात्व है। यद्यपि उनके साता-असाता वेदनीयकर्म का सद्भाव है, परन्तु मोहनीय एवं घातिकर्मों का अभाव होने से तथा असाता की तुलना में साता का उदय अनन्तगुना

होने से वह दु:खरूप फल देने में समर्थ नहीं होता है। अरे! केवली भगवान की बात तो छोडो! सातवें गुणस्थान में भी असातावेदनीयकर्म की उदीरणा का अभाव होने से आहारसंज्ञा का अभाव है।[61]

इस कवलाहार को तीर्थंकर परमात्मा के इच्छारहित दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश देने से जोडना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उनकी दिव्यध्वनि, तीर्थंकर-प्रकृति के निमित्त और भव्य जीवों के भाग्य से सर्वांग से ऊँकारमयी वाणी के रूप में खिरती है, जिसे देवगण 18 महाभाषाओं और 700 लघुभाषाओं में परिवर्तित कर देते हैं, जिससे दूर-दूर के जीव आकर उसका लाभ लेते हैं; भगवान की यह दिव्य-वाणी 4 सन्धिकालों में 6-6 घडी अर्थात् एक बार में 2 घण्टे 24 मिनिट के लिए खिरती है, जिसका एक दिन-रात में कुल समय 9 घण्टे 36 मिनिट हो जाता है।

ऐसा भी कहा जाता है कि भगवान की वाणी, विशेष पुण्यवानों के भाग्य से जैसे, गणधर, सौधर्म इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के निमित्त से अन्य काल में भी खिर जाती है; इसमें भी भगवान का राग या इच्छा कारण नहीं है, बल्कि उन-उन जीवों का सौभाग्य ही कारण है। ध्यान रहे कि इच्छापूर्वक उपदेश की प्रवृत्ति तो केवल छठे गुणस्थान तक ही होती है।

भगवान का समवसरण में बैठना, उठना, गमन करना अर्थात् दिव्य हितोपदेश के निमित्त से विहार करना आदि क्रियाएँ भी बिना प्रयास के सहज ही होती हैं, इसी सहजता की बात को समझाने के लिए आचार्य भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव ने स्त्रियों के मायाचार का उदाहरण[62] दिया है; जिस प्रकार स्त्रियों में मायाचार की प्रवृत्ति अथवा संसारी प्राणियों में श्वासोच्छ्वास की क्रिया, बिना प्रयास के सहज होती है, उसी प्रकार भगवान की उक्त क्रियाएँ सहज होती हैं।

इस कवलाहार के प्रकरण को **'एकादश जिने'**[63] सूत्र से जोड कर, ग्यारह परीषह के अन्तर्गत उनको कवलाहार सिद्ध करना भी उचित नहीं है, क्योंकि इस सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में स्पष्ट लिखा है कि इस सूत्र के साथ **'न सन्ति'** पद जोड लेना चाहिए अर्थात् जिनेन्द्र परमात्मा के ग्यारह परीषह नहीं होते – ऐसा इस सूत्र का अर्थ है। अरे! केवली परमात्मा को यदि असातावेदनीय की सत्ता भी है तो उदयकाल में वह सातावेदनीय में संक्रमित होकर उदय में आती है, अत: उन्हें जब भूख का वेदन भी नहीं है तो कवलाहार करने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

इस सम्पूर्ण गुणस्थान के भाव को क्षायिकभाव की संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि उनके नौ क्षायिक-लब्धियाँ या नौ क्षायिकभाव, सभी प्रगट हो जाते हैं। इस अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण क्षायिक-सम्यक्त्व को ही परमावगाढ-सम्यक्त्व नाम प्राप्त होता है, लेकिन इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के क्षायिक-सम्यक्त्व में कोई कमी रह जाती है, जिसे केवलज्ञान होने पर पूरा किया जाता है। वास्तव में परमावगाढ-सम्यक्त्व के इस कथन में केवलज्ञान का सम्यक्त्व पर उपचार किया जा रहा है।

इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष व आठ अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व है अर्थात् यदि कोई क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव, मनुष्य गति में उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व लेकर उत्पन्न होता है, उसका आठ वर्ष की उम्र में दीक्षित होने के बाद पहले अन्तर्मुहूर्त में सातवाँ गुणस्थान प्राप्त करना, दूसरे अन्तर्मुहूर्त में श्रेणी चढने के उद्यम-स्वरूप छठे-सातवें गुणस्थान में झूलना, तीसरे अन्तर्मुहूर्त में सातिशय अप्रमत्त अवस्था लेकर अध:प्रवृत्तकरण करना, चतुर्थ अन्तर्मुहूर्त में आठवें गुणस्थान के अपूर्वकरण-परिणाम को करना, पाँचवें अन्तर्मुहूर्त में नौवें गुणस्थान के अनिवृत्तिकरण-

परिणाम को करना, छठे अन्तर्मुहूर्त में दसवें गुणस्थान के सूक्ष्म-साम्पराय भाव में रहना, सातवें अन्तर्मुहूर्त में बारहवें गुणस्थान के क्षीणमोहभाव या क्षीणकषायभाव में रहना, इसके बाद 13वें गुणस्थान के उत्कृष्ट काल, आठ वर्ष व आठ अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व रहकर, अन्तिम आठवें अन्तर्मुहूर्त काल में चौदहवें गुणस्थान की अयोग अवस्था में रहना; इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है। (देखें, पूजा प्रकाश छाबडा द्वारा सम्पादित सयोगकेवली गुणस्थान पीडीएफ, अन्य प्रमाण खोजना है) इसी जघन्य और उत्कृष्ट काल के बीच असंख्य समय के भेदवाला तेरहवें गुणस्थान का मध्यम काल प्राप्त होता है।

इस गुणस्थान में प्रत्येक जीव, बारहवें गुणस्थान से ही आगमन करता है और यहाँ से प्रत्येक जीव चौदहवें गुणस्थान में ही गमन करता है। योग का सद्भाव होने से एक समय मात्र प्रमाणवाला केवल सातावेदनीयकर्म का आस्रव-बन्ध ही होता रहता है, लेकिन पूर्वबद्ध चार अघातिकर्मों की सत्ता एवं उदय भी विद्यमान रहता है।[64] इस गुणस्थान में 'सयोग' शब्द अन्तदीपक होने से इसके पहले के सभी गुणस्थान भी स्वयमेव 'सयोग' सिद्ध हो जाते हैं तथा 'केवली' शब्द केवलज्ञान का प्रतीक होने से आदिदीपक सिद्ध होता है, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानवाले और गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान भी केवलज्ञान-सम्पन्न तो होते ही हैं।

'सयोग' यह कौनसा भाव है? – इसकी व्याख्या करते हुए धवला में लिखा है कि 'सयोग' यह 'पारिणामिकभाव' है, अथवा यह 'औदयिकभाव' है। अन्यत्र धवला में ही इसे 'क्षायोपशमिकभाव' भी माना है; अत: उसे यथायोग्य विवक्षानुसार मानना ही उचित है। विस्तार के लिए धवला में अवश्य देखें। (धवला 5/225 226, 7/75 76, 7/105, 9/316 आदि)

आगम के आलोक में यदि विचार करें तो तेरहवें गुणस्थान के अन्त में ही दस प्राणों में से आयु-प्राण को छोडकर, नौ भाव-प्राणों की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, इन भाव-प्राणों के नाश का क्रम इस प्रकार है – बारहवें गुणस्थान के अन्त में ही मनबल-प्राण और पंचेन्द्रिय-प्राण की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, फिर तेरहवें गुणस्थान के अन्त में योग-निरोध किया जाता है, उसमें भी वचन और काय की बाह्य-प्रवृत्ति का निरोध तो हो ही जाता है, परन्तु योग-निरोध के भी अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में वचनबल-प्राण और श्वासोच्छ्वास की अन्तरंग प्रवृत्ति भी समाप्त होकर, तृतीय 'सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती' नामक शुक्लध्यान होता है, इसी के बल पर इस गुणस्थान के अन्त समय में कायबल-प्राण भी समाप्त हो जाता है और चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में प्रवेश होता है।

वास्तव में यदि शुद्धनिश्चयनय से विचार करें तो अरहन्त भगवान में 'केवली' शब्द का व्यवहार, सारे लोकालोक के प्रकाशक सर्वज्ञस्वरूप, ऐसे केवलज्ञान के कारण नहीं है, बल्कि केवल अपनी शुद्धात्मा को जानने के कारण वे 'केवली' कहलाते हैं। यही व्याख्या, 'श्रुतकेवली' में प्रयुक्त 'केवली' शब्दांश को समझाते हुए भी आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार,[65] प्रवचनसार[66], आदि ग्रन्थों में की है।

नियमसार[67] में तो यहाँ तक कह दिया है कि 'केवली भगवान, सबको जानते देखते हैं, यह तो व्यवहारनय का कथन है।' लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि केवली भगवान सारे लोकालोक को ज्ञाता-दृष्टाभाव से भी जानते-देखते नहीं हैं या उन्हें तो मात्र प्रशंसा में सर्वज्ञ कहा है। तन्मयता से केवली भगवान भी केवल अपनी आत्मा को ही जानते-देखते हैं, इस अर्थ की सूचना वहाँ दी गई है, क्योंकि यदि वे तन्मयता या अनुभवपूर्वक सारे लोकालोक को जानेंगे तो सारे लोक के सुख-दु:ख का भी उन्हें अनुभव होने लगेगा, जिससे केवली परमात्मा ही महादु:खी हो जाएँगे। यह इस गुणस्थान की

आध्यात्मिक व्याख्या है, जो सभी अध्यात्म ग्रन्थों में उपलब्ध है।

14. अयोग-केवली-जिन गुणस्थान – अब, इस अन्तिम गुणस्थान में पूर्ण वीतरागता एवं केवलज्ञान सहित होकर भी दस में से नौ प्राणों से रहित होने से चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते ही सम्पूर्ण शुभाशुभ योगप्रवृत्ति से सर्वथा रहित, सर्वोत्कृष्ट शील के ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर, मात्र पाँच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण मात्र समय तक ईर्यापथ आस्रव-बन्ध का भी अभाव होकर, सर्वथा निरास्रव-निर्बन्ध होकर, अन्त में आयुकर्म के साथ अन्य अघातिकर्मों का अभाव होने से शरीर का भी अन्त हो जाता है।

योग का अभाव होने का तात्पर्य यह नहीं है कि अयोगकेवली और सिद्ध भगवान के आत्मप्रदेशों का ही अभाव हो जाता है। आत्मप्रदेशों में तो वे अनन्तकाल तक स्थित रहते हैं। उन्हीं आत्मप्रदेशों में रहकर उनके अनन्त गुण, अपना स्वच्छ एवं निर्मल परिणमनरूप परिस्पन्दन भी करते रहते हैं, जैसे, उनका ज्ञानगुण, केवलज्ञान के द्वारा सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानते रहता है, इसी प्रकार दर्शन, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र, सुख आदि गुण भी अपने स्वरूप के अनुसार अपना निर्मल परिणमन करते रहते हैं। मात्र उनके मन-वचन-कायनिमित्तक क्रियात्मक योग-परिस्पन्द का अभाव हो जाता है – यह तात्पर्य है। चौदहवें गुणस्थान में भी अयोग अवस्था के साथ अन्तिम शुक्लध्यान के होने का कोई विरोध नहीं है, वह तो कर्मक्षय का निमित्त है।[68]

एक विवक्षा के अनुसार चौदहवें गुणस्थान के अन्त में ही यथाख्यात-चारित्र की पूर्णता होने से परम-यथाख्यात-चारित्र संज्ञा प्राप्त होती है, अत: उसके बाद ही मोक्ष होता है।

यहाँ **प्रश्न** है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता तो तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही हो जाती है, फिर भी मोक्षमार्ग पूर्ण होकर मोक्ष क्यों नहीं हो जाता है? तात्पर्य यह है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता का नाम मोक्षमार्ग है तो क्षायिक-सम्यग्दर्शन तो चौथे से सातवें के बीच में ही हो जाता है, यथाख्यात-चारित्रस्वरूप क्षायिक-सम्यक्चारित्र बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण हो जाता है और केवलज्ञानस्वरूप क्षायिकसम्यग्ज्ञान तेरहवें गुणस्थान में हो जाता है तो फिर रत्नत्रय या मोक्षमार्ग की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही हो जाने से तत्काल मोक्ष क्यों नहीं हो जाता?

उसका **समाधान** यही है कि बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात-चारित्र तो है, परन्तु परम-यथाख्यात-चारित्र नहीं है, अत: मोक्षमार्ग पूर्ण नहीं है, इसलिए मोक्ष भी नहीं होता है। मोक्षमार्ग की पूर्णता तो अयोगस्वरूप आत्मप्रदेशों की शुद्धिपूर्वक निष्क्रिय आत्मा के आचरण से अठारह हजार शील का पालन करते हुए परमशील की पूर्णता होने पर होती है। अथवा हम कह सकते हैं कि यद्यपि वहाँ रत्नत्रय तो पूर्ण हुआ है, लेकिन वह रत्नत्रय भी सहकारी कारण के रूप में आत्मा की अन्य शक्तियों, जैसे, प्रतिजीवी गुणों की शुद्धता आदि की अपेक्षा रखता है, अत: तेरहवें गुणस्थान में उनमें पूर्णता नहीं होने से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।[69]

आगम में वृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका[70] में यहाँ तक कहा गया है कि सम्पूर्ण तेरहवें गुणस्थान और चौदहवें गुणस्थान में भी अन्तिम समय को छोडकर, अन्य अवस्थाओं में अघातिकर्मों का तीव्र उदय होने से चारित्र में मल उत्पन्न होता है, फिर अन्तिम समय में उनका मन्द उदय होने पर चारित्र के दोष का अभाव हो जाने से अयोगी जिन, मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

छद्मस्थ जीव में जो दर्शन-ज्ञान की प्रवृत्ति क्रम से होती है, वह तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान और मुक्त -जीवों में युगपत् होती है अर्थात् केवली भगवान के केवलदर्शन और केवलज्ञान एकसाथ होते हैं, इसे हम ऐसे भी समझ सकते हैं कि केवली भगवान को घातिकर्मों में सर्वप्रथम मोहनीयकर्म के क्षय के कारण राग-द्वेष का अभाव हो जाने से किसे पहले जानें, किसे बाद में जानें – इस इच्छा का अभाव होने से तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तरायकर्म का युगपत् अभाव होने से भी उनके ज्ञान-दर्शन-वीर्य की युगपत् प्रवृत्ति होती है, जिससे उनकी सामर्थ्य इतनी बढ जाती है कि उन्हें क्रम से देखने-जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती और समस्त विश्व का सामान्य अवलोकन (दर्शन) करने के साथ ही विशेष अवलोकन (ज्ञान) भी वे युगपत् कर लेते हैं। यही कारण है कि राजवार्तिककार तो यहाँ तक कहते हैं कि 'जिस प्रकार संसारी जीवों में उपयोग मुख्य है, क्योंकि उनका उपयोग बदलता रहता है। मुक्तजीवों में सतत एक-सी धारा होने से उपयोग गौण है, वहाँ तो उपलब्धि-सामान्य होती है।'[71]

ध्यान रहे क्षीणमोह-जिन, द्वितीय शुक्लध्यान 'एकत्ववितर्क' के माध्यम से घातिकर्मों की 47 और अघातिकर्मों की 16, कुल 63 प्रकृतियों का नाश करके, सयोगी-परमात्मा बनते हैं, लेकिन सयोग-केवली अवस्थारूप तेरहवें गुणस्थान में फिर किसी भी प्रकृति का नाश नहीं होता। पश्चात् चौदहवें गुणस्थान में चतुर्थ शुक्लध्यान 'व्युपरत-क्रिया-निवर्ति' के माध्यम से इस गुणस्थान के अन्तिम एक समय पूर्व अर्थात् उपान्त्य समय में अघातिकर्मों की 85 प्रकृतियों में से 72 प्रकृतियों का और अन्तिम समय में शेष 13 प्रकृतियों का अभाव करके, संसार-अवस्था का अन्त होकर, गुणस्थानातीत मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस गुणस्थान का भाव भी क्षायिक ही होता है[72] तथा इस चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश, तेरहवें गुणस्थान से ही होता है और चौदहवें गुणस्थान से सिद्ध अवस्था में ही गमन होता है। धवला में तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थानवालों का साधारण शरीर से शून्य – ऐसा प्रत्येक शरीर माना गया है, क्योंकि वह निगोदिया जीवों से रहित होता है।[73]

15. गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान – जब कोई भव्यजीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके चारित्र की साधना करने के लिए शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करता है, फिर समय पाकर क्षपकश्रेणी-आरोहण करके, वीतराग-सर्वज्ञ बनकर, चौदह गुणस्थानों की प्रक्रिया को पार करके, भाव-द्रव्य-नोकर्म से रहित होकर, कृतकृत्य अर्थात् मुक्त या सिद्ध हो जाता है तो इस असार संसार में समय मात्र के लिए भी नहीं रुकता और तुरन्त उसी समय स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करके, अनन्त काल के लिए लोकाग्र में स्थित सिद्धालय में जाकर, विराजमान हो जाता है; इसी अवस्था को सिद्ध अवस्था कहते हैं, उन्हें ही णमोकार मन्त्र में 'णमो सिद्धाणं' कहकर नमस्कार किया गया है।

इस अवस्था को निकल परमात्मा भी कहा जाता है, कल अर्थात् शरीर और निकल अर्थात् निकल गया है शरीर जिनका – ऐसे शरीर रहित निकल परमात्मा। सिद्ध परमात्मा, भावकर्मों से रहित होने से वीतरागी हैं, द्रव्यकर्मों से रहित होने से निर्बन्ध हैं तथा नोकर्म से रहित होने से शरीर रहित निकल हैं। सिद्ध भगवान के आठ गुणों में आठ कर्मों से रहित होने को प्रमुख हेतु माना गया है, आठ कर्मों के नाम भी कर्मकाण्ड में दो तरह से बताए गये हैं।

पहले विभाजन के अनुसार आठ कर्मों के नाम इस प्रकार हैं – 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3.

वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र 8. अन्तराय। जबकि दूसरे विभाजन के अनुसार आठ कर्मों को दो विभागों में बाँटा गया है – चार घातिकर्म और चार अचार घातिकर्म। उनमें चार घातिकर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय हैं, जबकि चार अघातिकर्मों में आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय हैं। इन आठ कर्मों के अभाव से ही सिद्ध भगवान, आठ विशेष गुणों से संयुक्त होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है –

1. ज्ञान अर्थात् वस्तुस्वरूप का विशेष अवलोकन करना, इस ज्ञान के आवरण में ज्ञानावरणकर्म निमित्त होता है; ज्ञानावरणकर्म को समझाने के लिए **'वस्त्र का उदाहरण'** दिया है। जिस प्रकार मुख पर ढका हुआ वस्त्र, मुख का ज्ञान नहीं होने देता, उसी प्रकार ज्ञान पर पडा आवरण, वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं होने देता; अत: उसका अभाव होने से उन अरहन्त या सिद्ध केवली परमात्मा को ऐसी विशेष आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति प्रगट हो जाती है कि वे आत्मा के प्रदेशों में स्थित रहकर ही अर्थात् आत्मा में लीन रहते हुए, समस्त लोकालोक के युगपत् ज्ञाता हो जाते हैं, इस गुण को केवलज्ञान, अनन्तज्ञान या क्षायिकज्ञान भी कहते हैं।

यद्यपि छद्मस्थ अवस्था में एवं कारण-कार्य-दृष्टि की प्रधानता में दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है, तथापि यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण मानने से एवं दर्शन की अपेक्षा ज्ञान में महानता होने से आठ कर्मों में ज्ञानावरण को दर्शनावरण के पहले और आत्म-गुणों में ज्ञान को दर्शन के पहले स्थान दिया गया है।

2. दर्शन अर्थात् वस्तुस्वरूप का सामान्य अवलोकन करना, इस दर्शन के आवरण में दर्शनावरणकर्म निमित्त होता है; दर्शनावरणकर्म को समझाने के लिए **'पहरेदार का उदाहरण'** दिया है। जिस प्रकार पहरेदार, राजा का दर्शन नहीं होने देता, उसी प्रकार दर्शन पर पडा आवरण वस्तुस्वरूप का दर्शन या अवलोकन नहीं होने देता; अत: उसका अभाव होने से उन अरहन्त या सिद्ध केवली परमात्मा को ऐसी विशेष आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व शक्ति प्रगट हो जाती है कि वे आत्मा के प्रदेशों में स्थित रहकर ही अर्थात् आत्मा का अवलोकन या अनुभवन करते हुए ही समस्त लोकालोक के युगपत् द्रष्टा हो जाते हैं, इस गुण को केवलदर्शन, अनन्तदर्शन या क्षायिकदर्शन भी कहते हैं।

यद्यपि केवली भगवान को भी दर्शन और ज्ञान युगपत् होते हैं, तथापि दीपक और प्रकाश के समान युगपत् होते हुए भी दर्शन को कारण और ज्ञान को कार्य ही माना जाएगा क्योंकि दर्शन, सामान्य को ग्रहण करता है और ज्ञान, विशेष का ग्रहण करता है; फिर भी लक्षणदृष्टि से ज्ञान आत्मा का लक्षण है, इस अपेक्षा सामान्य अवलोकन करनेवाले दर्शन से पहले, विशेष अवलोकन करनेवाले ज्ञान का ग्रहण किया गया है।

3. वेदनीयकर्म, यद्यपि अघातिकर्मों में प्रधान माना जाता है, उसका कारण यह है कि संसार अवस्था में प्रत्येक संसारी, ज्ञानावरण-दर्शनावरण के बाद इसी कर्म से सबसे अधिक प्रभावित होता है, तभी तो षट्खण्डागम, धवला, समयसार-आत्मख्याति[74], गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों में जब आठ कर्मों का नामोल्लेख किया जाता है तो वहाँ मोहनीयकर्म के भी पहले वेदनीयकर्म को माना गया है।

वेदनीयकर्म को समझाने के लिए आचार्यों ने **'शहद लपेटी तलवार'** का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार शहद या जहर लपेटी, दोनों तलवारें काटने का ही काम करती हैं; उसी प्रकार वेदनीयकर्म भी इन्द्रियजनित सुख या दु:ख का ही वेदन कराता है, इनमें से कोई भी आत्मिक अतीन्द्रिय सुख देने में समर्थ नहीं है, उस निराकुलसुख का तो इस वेदनीयकर्म के निमित्त से व्याघात ही होता है। यद्यपि वेदनीयकर्म अघातिकर्म का

भेद है, तथापि मोहनीय के साथ वह मोहनीय के समान ही जीवगुणों को घातने में समर्थ माना जाता है, अत: उसे मोहनीय के पहले स्थान दिया गया है।

इस वेदनीयकर्म के अभाव से सिद्ध भगवन्तों में अव्याबाधत्व या निराबाधगुण प्रगट होता है, इसे अव्याबाधसुख भी कहा जाता है। वास्तव में अनन्त अव्याबाधसुख में बाधा डालनेवाला यही वेदनीयकर्म है, जिसके अभाव में ही अनन्त अव्याबाधसुख का वेदन होता है।

4. मोहनीयकर्म के अभाव से क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र एवं क्षायिक-सुख, तीनों उत्पन्न होते हैं, फिर भी यह **प्रश्न** उत्पन्न होता है कि सिद्धों के आठ गुणों में क्षायिक-सम्यक्त्व का ही नामोल्लिखित क्यों किया गया है?

इसका **समाधान** यह है कि जैसे, बारहवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म के अभाव में क्षायिक-यथाख्यात-चारित्र कहा जाता है, अरहन्त अवस्था में उसी मोहनीयकर्म के अभाव में अनन्त-क्षायिक-सुख कहा जाता है तो उसी प्रकार सिद्ध अवस्था में उसी मोहनीयकर्म के अभाव में सम्यक्त्वगुण को प्रधानता दी गई है।

इसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि जिस सम्यक्त्व के कारण मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है, जिस सम्यक्त्व के कारण ज्ञान-चारित्र आदि अनन्त गुणों में सम्यक्पना आता है, उस सम्यक्त्व का उल्लेख सिद्ध अवस्था में आवश्यक होने से उसे मोहनीयकर्म के अभाव में स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए सिद्धों को क्षायिक-चारित्र या क्षायिकसुख नहीं है; अरे! सिद्धों का यह सुख, वृद्धि-ह्रास से रहित, परद्रव्यों से निरपेक्ष, सर्व सुखों में सर्वोत्कृष्ट, बाधारहित, उपमारहित, अतीन्द्रिय और अनुपम होता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस सुख[75] को छह विशेषणों – 'अतिशय, आत्मा से उत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न' से सम्मानित किया गया है।

मोहनीयकर्म को वेदनीयकर्म के बाद क्यों स्मरण किया है? जबकि उसका इतना प्रबल निमित्त होता है कि मोक्षमार्ग, उसी के निमित्त से बाधित होता है, आगम में इस मोहनीयकर्म को समझाने के लिए **'मद्य या शराब का उदाहरण'** दिया है। जिस प्रकार शराब पीने के बाद हमें सही-गलत या हित-अहित का विवेक नहीं रहता है, उसी प्रकार मोह के कारण हम अपना आत्मकल्याण-अकल्याण या हित-अहित सब भूल जाते हैं। लेकिन फिर भी जब हम संसारी जीवों की प्रवृत्ति को देखते हैं तो वे मोहनीयकर्म से ज्यादा वेदनीयकर्म से चिन्तित दिखाई देते हैं, जिस मोह के कारण वे चतुर्गति-संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, उसकी उन्हें चिन्ता नहीं है, उन्हें तो अपने अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों की ही चिन्ता लगी रहती है; अत: यही प्रतीत होता है कि संसारी जीवों की इसी प्रवृत्ति के कारण ही मोहनीय के पहले वेदनीय को रखा गया है।

5. अघातिकर्मों में सबसे अधिक प्रभावित करनेवाला कर्म आयुकर्म है, इसके लिए ग्रन्थों में **'बेडी का उदाहरण'** दिया गया है, उसके निमित्त से ही जीव की प्रत्येक भव में स्थिति होती है, उसके अभाव से जीव बन्धन-मुक्त हो जाता है, यही अवगाहनत्वगुण का कार्य माना गया है। संसार-अवस्था में तो जीव, निगोद को छोडकर, एक-दूसरे को परस्पर प्रादेशिक अवगाहन नहीं देते, लेकिन सिद्ध भगवान का यह गुण माना गया है कि वे **'एक माहिं अनेक राजें'** अर्थात् सिद्ध भगवान एक ही स्थान से सिद्ध होनेवाले अनन्त जीवों को भी परस्पर एक-दूसरे में समा लेते हैं, यही सिद्धों के स्वाभाविक अवगाहनत्वगुण की अलौकिकता है।

6. नामकर्म के संक्षेप में 42 भेद हैं और विस्तार से भेद-प्रभेद करने पर 93 या 103 भेद भी हो जाते हैं, इसके निमित्त से मुख्यरूप से संसारी जीव को शरीर और उससे सम्बन्धित विभिन्न विचित्र संयोगों की

प्राप्ति होती है, इसे समझाने के लिए आचार्यों ने '**चित्रकार का उदाहरण**' दिया है; जिस प्रकार चित्रकार, एक ही चित्र को अनेक रंगों के माध्यम से रंगीन बना देता है, उसी प्रकार नामकर्म भी संसारी जीव को अनेक नरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति, त्रस-स्थावरादि काय, अंगोपांग, संहनन, संस्थान, वर्ण आदि नामकर्म की प्रकृतियों के निमित्त से स्वभावत: सूक्ष्मजीव को भी स्थूल बना देता है; यही कारण है कि नामकर्म के अभाव में सिद्ध भगवन्तों में स्वाभाविक सूक्ष्मत्वगुण प्रगट हो जाता है।

7. संसार-अवस्था में गोत्र के कारण जीवों में परस्पर गुरु-लघु या ऊँच-नीच का व्यवहार होता है, 'हम उनसे बडे हैं, वे हमसे छोटे हैं' इत्यादि व्यवहार का कारण गोत्रकर्म है, इसे समझाने के लिए '**कुम्भकार का उदाहरण**' दिया जाता है; जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बडे बर्तन बनाता है, कभी अच्छे बनाता है तो कभी बुरे, उसी प्रकार गोत्रकर्म भी जीव को उच्च-नीचपने में डाल देता है; लेकिन सिद्ध भगवन्तों में यह गुरु-लघु का व्यवहार नहीं होता, सभी सिद्ध भगवन्त समानरूप से परम शुद्ध होते हैं, परम सुखी होते हैं।

जो कुछ सिद्धों में भी अन्तर माना जाता है, वह केवल औपचारिक ही है। जैसे, क्षेत्र, काल, गति, लिंग आदि की दृष्टि से अन्तर व्यावहारिक हैं।[76]

8. क्षायिक-अनन्तज्ञान और क्षायिक-अनन्तदर्शन को धारण करने हेतु आत्मा में अनन्त सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, जो कि अन्तरायकर्म के एक भेद वीर्यान्तरायकर्म के अभाव से प्रगट होती है। भूतपूर्व संसार-अवस्था में भी जब-जब, जितना-जितना क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन प्रगट होता है, तब-तब, उतना-उतना क्षायोपशमिक वीर्य भी अवश्य प्रगट होता है, इसी नियम के अनुसार यहाँ भी अनन्तज्ञान-दर्शन के साथ अनन्तवीर्य भी होना आवश्यक है।

अन्तरायकर्म को समझाने के लिए आचार्यों ने '**भण्डारी अर्थात् खजांची का उदाहरण**' दिया है, जिस प्रकार खजांची, मालिक की इच्छा होने के बाद भी कोष देने में विघ्न उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अन्तरायकर्म भी दान-लाभादि में बाधाएँ उपस्थित करता है। इसी कारण अन्तरायकर्म के पाँच भेद माने गये हैं, अत: सिद्ध भगवन्तों को क्षायिक-अनन्तवीर्य के साथ क्षायिक-अनन्तदान, क्षायिक-अनन्तलाभ, क्षायिक-अनन्तभोग और क्षायिक-अनन्त-उपभोग भी प्रगट हो जाते हैं, जिनका अनन्तकाल तक सिद्ध भगवान निर्विघ्नतया उपयोग एवं उपभोग करते रहते हैं।

अन्तरायकर्म, जो कि घातिकर्म का ण्क भेद है, फिर भी उसे सर्व कर्मों के अन्त में स्मरण किया गया है, उसे घातिकर्म होने पर भी अघातिकर्म के रूप में माना है; क्योंकि 1. अन्तरायकर्म, अघातिकर्म के समान जीवगुण को पूर्णरूप से घातता नहीं है। 2. सामान्यत: यह वीर्यगुण, जीव और अजीव, दोनों में पाया जाता है, 3. अन्तरायकर्म, नामादि अघातिकर्मों के निमित्त से ही अपना कार्य करता है।

इस प्रकार उक्त आठ सम्यक्त्वादि गुण, सिद्ध भगवान को प्रगट होते हैं। इन्हीं आठ गुणों का वर्णन प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी में रचित सिद्ध-भक्तियों एवं 'अशरीरी सिद्ध भगवान' आदि भजनों में किया गया है, इन्हीं गुणों की सूचना निम्न छन्द में द्रष्टव्य है –

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना।
सूक्षम वीरजवान, निराबाध गुण सिद्ध के।।[77]

सिद्ध भगवन्तों के अनेक नाम आगम में मिलते हैं, उनमें कुछ नाम इस प्रकार हैं – जैसे, व्यवहारातीत, परम-शुद्ध, कार्य-परमात्मा, लोकाग्र-वासी, चिर-वासी, संसारातीत, निरंजन, निराकार, निष्काम, निष्कर्म,

परम-साध्य, परम-सुखी, ज्ञानाकारी, ज्ञान-शरीरी, अशरीरी आदि।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से सिद्ध जीवों का द्रव्य, पर से पूर्ण विभक्त, परमपवित्र शुद्ध है; क्षेत्र की दृष्टि से सिद्ध जीवों की जघन्य अवगाहना सात हाथ की और उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष की होती है, तदनुसार उनके आकार आदि में भी अन्तर होता है; काल की दृष्टि से सभी सिद्धों का काल सादि-अनन्त ही होता है, इसी प्रकार भावों की दृष्टि से समझें तो सिद्धजीवों के पाँच भावों में से दो भाव ही माने गये हैं – क्षायिकभाव और पारिणामिकभाव।

गमन-आगमन की दृष्टि में भी चौदहवें गुणस्थान से उनका आगमन तो हो रहा है, परन्तु उनका गमन कहीं नहीं होता है, सादि-अनन्त काल तक एक ही स्थान पर स्थिर होकर विराजते हैं।

इसी प्रकार सिद्धजीव, जिस स्थान पर रहते हैं, उसे अष्टम पृथिवी या ईषत् प्राग्भार या सिद्धशिला भी कहते हैं। यह क्षेत्र, सर्वार्थसिद्धि की ध्वजा से बारह योजन ऊपर है, इस अष्टम पृथिवी के मध्य में सिद्धशिला स्थित है, इसका आकार आधे कटे नींबू के समान गोलाकार है, इसका व्यास पैंतालीस लाख योजन है, इसकी मोटाई मध्य में आठ योजन और क्रम से घटते हुए अन्त में एक अंगुल रह जाती है, इसी सिद्धशिला से ठीक ऊपर तनुवातवलय में सिद्ध भगवन्तों का वास्तविक निवास होता है, जिसे 'सिद्धक्षेत्र' कहते हैं। निश्चय से सिद्ध भगवन्त, अपने-अपने असंख्य आत्म-प्रदेशों में अन्तिम शरीर से किंचित्-न्यून-शरीराकार स्थित रहते हैं।

हम सभी भी गुणस्थानों का सम्यक् स्वरूप जानकर, गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान को साध्य बनाकर, सिद्धस्वरूप अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर, अविचल अविनाशी अतीन्द्रिय अनाकुल अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख प्राप्त करें – यही मंगल भावना है।

– डॉ. राकेश जैन शास्त्री

'गन्धकुटी', दयाराम अखाडे के सामने

तेलीपुरा, मस्कासाथ, इतवारी, **नागपुर** – 440 002

फोन – **09373005801, 9270057234**

* * * * *

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. इस लेख को तैयार करने में सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य विरचित गोम्म्टसार जीवकाण्डकर्मकाण्ड, आचार्य वीरसेनस्वामीविरचित धवला टीका के अलावा आदरणीय बाल ब्र. श्री यशपालजी की 'गुणस्थान विवेचन' और श्रीमती पूजा प्रकाश छाबडा द्वारा प्रस्तुत 'गुणस्थान' विषय की पीडीएफ का सहयोग लिया गया है, अत: मैं आचार्यदेव के प्रति विनयपूर्वक भक्तिभाव के साथ उक्त दोनों महानुभावों का हृदय से धन्यवाद देना चाहता हूँ।

2. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 3

3. **जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।**
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं।। – गोम्मटसार गाथा 8

4. समयसार गाथा 44-46, 50-56 आदि

5. देखें, प्रवचनसार गाथा 9 की तात्पर्यवृत्ति टीका

6. सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक 2/6

7. पंचसंग्रह गाथा 137-140

8. समयसार गाथा 55 की आत्मख्याति टीका

9. **जीवा ते गुणसण्णा** – गोम्मटसार गाथा 104

10. धवला 1/160-163

11. **ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी** – –षट्खण्डागम सूत्र, –धवला 1/162

12. **सासणसम्माइट्ठी** – –षट्खण्डागम सूत्र, –धवला 1/164

13. **सम्मामिच्छाइट्ठी** – –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/167

14. **असंजदसम्माइट्ठी** –– षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/171

15. **संजदासंजदा** – –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/174

16. **पमत्तसंजदा** – –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/176

17. **अप्पमत्तसंजदा** – –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/179

18. **अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा-खवा**
– –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/180

19. **अणियट्ठि-बादर-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा-खवा**
– –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/184

20. **सुहुम-सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा-खवा**
– –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/188

21. **उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था**
– –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/189

22. **खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था**
– –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/190

23. **सजोग-केवली** – –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/191

24. **अजोग-केवली** – –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/193

25. **सिद्धा चेदि** – –षट्खण्डागम सूत्र, धवला 1/201

26. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 3

27. समयसार, गाथा 19-22

28. समयसार गाथा 69-70

29. चारित्रपाहुड, 7-17

30. गोम्मटसार गाथा 29

31. ज्ञानदर्पण, छन्द 29 (दोहा)

32. प्रवचनसार गाथा 80 की आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका

33. समयसार गाथा 320 के बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका

34. देखें, धवला 6/203-243, राजवार्तिक 9/1/!3, गोम्मटसार जीवकाण्ड 704, गोम्मटसार कर्मकाण्ड 550 आदि

35. इसका विशेष वर्णन, आगे सप्तम गुणस्थान के सातिशय-अप्रमत्त का कथन करते समय किया गया है ।

36. इसका विस्तृत एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय में सम्यक्त्व-सन्मुख-मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में पृष्ठ 263-264 पर लिखा है । पाठकों से उसका स्वयं अध्ययन करने का आग्रहपूर्ण निवेदन है।

37. गोम्मटसार गाथा 27

38. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 17-20

39. प्रवचनसार गाथा 202 एवं उसकी टीकाएँ

40. प्रवचनसार गाथा 203 एवं उसकी टीकाएँ

41. अष्टपाहुड, चारित्रपाहुड, 22

42. धवला 5/14, 6/338, जयधवला 1/349

43. पण्डित रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ 139

44. पण्डित रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ 795

45. पण्डित रतनचन्द मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ 138

46. देखें, धवला 15/62 व 15/68

47. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 33

48. देखें, इस लेख के लेखक डॉ. राकेश जैन शास्त्री द्वारा सम्पादित, ब्र. हेमचन्दजी भोपाल एवं पण्डित रतनलालजी बैनाडा की परस्पर-लिखित चर्चा की पुस्तक,‘आगम-अध्यात्म के आलोक में : **सम्यक्त्व चर्चा**’, प्रकाशक–श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वद् परिषद् ट्रस्ट, जयपुर. प्रकाशन-तिथि : 25 अगस्त 2016.

49. प्रवचनसार गाथा 204

50. प्रवचनसार गाथा 210

51. देखें, लब्धिसार, गाथा 205-218

52. देखें, कषायपाहुड, जयधवला, 2/417
53. देखें, लब्धिसार 217-303, धवला 6/ 288-316, धवला 1/210-214, गोम्मटसार जीवकाण्ड 704, गोम्मटसार कर्मकाण्ड 550
54. देखें, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9, सूत्र 45
55. ध्यान रहे कि श्रीमद् यतिवृषभाचार्य के मतानुसार द्वितीयोपशम-सम्यक्त्ववाला भी दूसरे गुणस्थान में आ सकता है, क्योंकि उनके मतानुसार उस जीव ने अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना भी नहीं की है, अत: ऐसे जीव का दूसरे गुणस्थान में आना सम्भव है; जबकि श्रीमद् नेमिचन्द्राचार्य के मतानुसार प्रथमोपशम-सम्यक्त्ववाला ही दूसरे गुणस्थान को प्राप्त करता है।
56. छहढाला, पहली ढाल, छन्द 4
57. समयसार-आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, 47 शक्तियाँ, पाँचवीं सुखशक्ति
58. भगवती आराधना, गाथा 2113-2114
59. देखें, कषायपाहुड, 1/343
60. देखें, तिलोयपण्णत्ति 4/705
61. देखें, धवला 2/433, गोम्मटसार कर्मकाण्ड एवं टीका 273,
    क्षपणासार गाथा 616 एवं प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति 20
62. प्रवचनसार गाथा 44 एवं टीका
63. तत्त्वार्थसूत्र, 9/11
64. गोम्मटसार कर्मकाण्ड एवं टीका 274
65. देखें, समयसार गाथा 9-10
66. देखें, प्रवचनसार गाथा 33
67. देखें, नियमसार गाथा 159
68. देखें, धवला 7/18, वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका 13
69. देखें, श्लोकवार्तिक, भाग 1/484
70. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 13 की टीका
71. देखें, राजवार्तिक, 2/10/5
72. देखें, धवला 1/199
73. देखें, धवला 14/81
74. गाथा 387-389 की टीका में कलश 230 के बाद की टीका में 148 प्रकृतियों से संन्यास की भावना
75. प्रवचनसार, गाथा 13
76. तत्त्वार्थसूत्र के अन्तिम अध्याय के अन्तिम सूत्र
77. बालबोध पाठमाला, भाग 3, पाठ दूसरा – पंच-परमेष्ठी

* * * * *